तो दूसरी Chaos (असृजित अंश) को विजय करके सुधारती है। शैतानके राज्यको हटाकर स्वर्गका राज्य (Kingdom of Heaven) स्थापित करती है। एक पैराडाइजके दोषोंको तप और त्यागद्वारा हटाती है तो दूसरी पैराडाइजकी सीमामें वह अंश वापस लाती है, जो दैवी शासनसे मानो बाहर निकल गया था—महाकाव्यकलामें अयोध्या और लंकाके ऐसे ही अर्थ हो सकते हैं।'

धरे नाम गुर हृदय बिचारी। बेदतत्व नृप तव सुत चारी॥ १॥
मुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बालकेलि रस तेहिं सुख माना॥ २॥

अर्थ—गुरुजीने हृदयमें विचारकर नाम रखे अर्थात् नामकरण किया (फिर कहा—) हे राजन्! तुम्हारे चारों पुत्र वेदके तत्त्व हैं॥ १॥ जो मुनियोंके धन, भक्तोंके सर्वस्व और शिवजीके प्राण हैं, उन्हींने बालक्रीड़ा-रसमें सुख माना है। अर्थात् वे ही बालकरूप होकर बालकोंकी-सी क्रीड़ा कर रहे हैं॥ २॥*

टिप्पणी—१ (क) राजाने मुनिसे जो कहा था कि *'धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा'* उसको यहाँ चरितार्थ किया। *'धरिअ नाम'* उपक्रम है और *'धरे नाम गुर हृदय बिचारी'* उपसंहार है। (ख) 'वेद-तत्त्व' हैं अर्थात् वेद इन्हींका गुण गान करते हैं; वेदके सिद्धान्त ये ही हैं। 'बेदतत्व' होनेके प्रमाण ऊपर दोहा १९७ में दिये जा चुके हैं। ☞ यहाँतक नामकरणका उल्लेख हुआ, जो सब वसिष्ठजीकी उक्ति है। (ग) *'बेदतत्त्व नृप तव सुत चारी'* का भाव कि नामकरण करके बताया कि हमने इनको वेदोंका तत्त्व समझकर नामकरण किया है। यह प्रमाण दिया है। तात्पर्य कि जैसा जगत्‌में नाम धरने (नामकरण करने) की रीति है वह रीति हमने नहीं बरती, उसके अनुसार हमने नामकरण नहीं किया। जिस नक्षत्रके जिस चरणमें जन्म होता है वही (उसीका प्रथम) अक्षर नामके आदिमें रखा जाता है, सो हमने नहीं किया वरंच जैसा वेद कहते हैं वैसा नाम धरा है।

नोट—१ नामकरणके विषयमें ज्योतिषशास्त्रमें यह नियम है कि प्रत्येक नक्षत्रके चार चरणोंके पृथक्-पृथक् चार अक्षर जो निश्चित किये गये हैं, उनमेंसे जो अक्षर जिस नामके आरम्भमें हो वही नाम उस चरणमें जन्म लेनेवालेका धरा जाता है। जैसे कि 'चू चे चो ला अश्विनी' अर्थात् अश्विनीनक्षत्रके चार अक्षर चू, चे, चो और ला हैं। अतएव अश्विनीके प्रथम चरणमें जन्म लेनेवालेका नाम वही रखा जायगा जिसका प्रथम अक्षर 'चू' हो। अर्थात् चूड़ामणि, इत्यादि। इसके अनुसार इन चारोंका नामकरण नहीं हुआ। पुनर्वसुके चार चरणके 'के को हा ही' ये अक्षर हैं, इनमें 'रा' अक्षर नहीं है, परन्तु नाम 'राम' रखा गया।

मा० त० वि०—*'बेदतत्व नृप तव सुत चारी'* का भाव कि 'वेदतत्त्व प्रणव एकाक्षर ब्रह्म है—**'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'** (गीता ८। १३), परन्तु वह 'अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्राद्वारा ख्यात है, इसीसे वही चारों वर्ण चारों पुत्र हैं। वेदतत्त्व तुम्हारे चारों पुत्र हुए हैं, इस कथनका भाव यह है कि आपकी भक्ति-समाधिका फलरूप पुत्रभावमें गोचर हुआ है। यथा **'अतीन्द्रियरामसुखं नराणां सतां मुनीनां सुगोचरोऽपि। इमे हि तद्भक्तिसमाधिनेत्रे इतीन्द्रियं चाप्यवलोकयन्ति॥'** इति कोशलखण्डरामायणे'

टिप्पणी—२ *'मुनि धन जन सरबस सिव प्राना।'* इति। यहाँ मुनि, जन और शिव तीनोंका, क्रमशः एकसे दूसरेका, उत्तरोत्तर अधिक प्रियत्व तथा प्रेम दिखानेके लिये तीनोंके लिये क्रमशः विशेष प्रियत्व तथा प्रेम-बोधक धन, सर्वस्व और प्राण विशेषण दिये गये हैं। मुनिसे जन विशेष (प्रिय तथा प्रेमी) हैं और जनसे शिवजी विशेष (प्रिय तथा प्रेमी) हैं, क्योंकि 'धन' से सर्वस्व विशेष है और 'सर्वस्व, से प्राणविशेष (अधिक) हैं। यथा *'माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥ देह प्रान तें*

* 'बालकेलि रस तेहिं सुख माना' का अर्थ बैजनाथजी यह करते हैं—(मुनि, हरिजन और शिव आदि) 'यावत् रामसनेही हैं सब बालकेलिरसास्वादनमें सुख मानकर श्रवण-कीर्तन करते हैं।' परंतु यदि ऐसा अर्थ अभिप्रेत होता तो 'तिन्ह' पाठ होता। ब्रह्मने ही भक्तिवश बालविनोदमें सुख माना यह आगे प्रसङ्गभरसे स्पष्ट है। अ० रा० में भी कहा है—'रामस्तु लक्ष्मणेनाथ विचरन्बाललीलया। रमयामास पितरौ चेष्टितैर्मुग्धभाषितैः॥' (३। ४३) अर्थात् लक्ष्मणजीके साथ विचरते हुए श्रीरामजी अपनी बाललीलाओं, चेष्टाओं और भोलीभाली बातोंसे माता-पिताको आनन्दित करने लगे।

प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥' (२०८। ४-५) (इसमें क्रमसे धन, सर्वस्व और प्राणका देना इसी भावसे कहा गया है।) शिवजीसे अवधवासी विशेष (प्रिय तथा प्रेमी) हैं तभी तो भगवान् उनको सुख देनेके लिये बालकेलि करते हैं। यथा—*'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महुँ संतत मगन।'* (७। ८८) *'प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल।'* (२०४) (अवधवासियोंको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं।)

नोट—२ (क) *'मुनि धन'* का भाव यह भी है कि वाल्मीकि, विश्वामित्र आदि मुनियोंको ऐसे प्रिय हैं जैसे लोभीको धन। लोभीका चित्त सदा धनके उपार्जन, वृद्धि और रक्षामें संलग्न रहता है। उसके अतिरिक्त उसे कुछ नहीं सूझता, यहाँतक कि मृत्युके समय भी उसका ध्यान धनहीमें रहता है। विश्वामित्रजीके सम्बन्धमें तो स्पष्ट ही कहा है—*'स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥'* (२०९। ३) पुनः भाव कि जैसे *'परम कृपन कर सोना।'* (२५९। २) अर्थात् जैसे कृपणका ध्यान निरन्तर गड़े हुए धनपर रहता है, वह सदा उसको सँभालता रहता है, इत्यादि, वैसे ही ये मुनियोंको प्रिय हैं। विशेष *'लोभिहि प्रिय जिमि दाम।'* (७। १३०) और (२५९। २) में देखिये। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि अगस्त्य, नारद, पराशर और वाल्मीकि आदि मुनियोंके 'धन' कहनेका तात्पर्य यह है कि अगस्त्यजीने संहिता, रामायण आदि रामचरित ही गाया, श्रीनारदजी रामभक्तिका उपदेश करते हैं और पराशर तथा वाल्मीकिजीने भी रामचरित ही गाया। अतः उनका 'धन' कहा।

नोट—३ *'जन सरबस'* इति। जन=भक्त; हरिजन। हरिभक्तोंके आप सर्वस्व अर्थात् सब कुछ हैं, यथा '**त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥**' पाण्डवगीताके इस श्लोकमें भी यही कहा है कि संसारमें यावत् प्रेमके नाते हैं वे सब एकमात्र श्रीरामजी ही हैं। भक्त अन्य किसीको अपना करके नहीं जानते-मानते। यथा—*'स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम्ह तात।'* (२। १३०) *'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।'* (२। १""। ५) *'राम हैं मातु पिता गुर बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही। राम की सौंह भरोसो है राम को रामरँग्यो रुचि राच्यो न केही॥ जीयत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही॥""'* (क० ७। ३६) *'राम मातु पितु बंधु सुजन गुर पूज्य परमहित। साहिब सखा सहाय नेह नाते पुनीतचित॥ देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति॥ परमारथ स्वारथ सुयश सुलभ राम ते सकल फल। कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल॥'* (क० ७। ११०) **पुनः; यथा शिवसंहितायाम् श्रीहनुमद्वचनम्**—'**पुत्रवत्पितृवद्रामो मातृवद्भ्रातृवत्सदा। श्यालवद्धामवद्रामः श्वश्रूवच्छ्वशुरादिवत्॥ पुत्रीवत्पौत्रवद्रामो भागिनेयादिवन्मम। सखावत्सखिवद्रामः पत्नीवदनुजादिवत्। यः प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायिनी। रामे सीतापतावेव निधिवन्निहिता मुनेः॥**' (यह श्लोक बैजनाथजीने दिया है।)

नोट-४ *'सिव प्राना'* इति। शिवजी निरन्तर श्रीरामजीके नाम, रूप, चरित आदिमें लगे रहते हैं। मानस उन्हींका संवाद है। अतः उनका प्राण कहा। (वै०)

वीरकविजी—हिन्दी नवरत्नके लेखकोंने ११५ वें पृष्ठपर गोस्वामीजीकी हँसी उड़ाई है कि *'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम प्रभु मम उर अंतर॥'* यह गोस्वामीजीने महादेवजीसे कहवाया है। सो क्या महादेवजी लक्ष्मणका भी ध्यान करते थे? पर उसमें भालु-कीशोंको निकाल दिया, यही उनका बड़ा अनुग्रह हुआ इत्यादि।' यहाँपर लेखक महोदय देखें कि चारों पुत्र वेदतत्त्व (ब्रह्म) कहे गये हैं। ऐसी अवस्थामें उनकी समालोचना कहाँतक स्तुत्य कही जा सकती है।

बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥ ३॥
भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई*॥ ४॥

---

* बड़ाई—१६६१, १७०४ (रा० प०)। बढ़ाई—पं०, वै०; भा० दा०। 'बढ़ाई' पाठसे अर्थ सुगमतासे लग जाता है।—'प्रभु और सेवकमें जैसी प्रीति होनी चाहिये वैसी प्रीति बढ़ाई।' 'जसि जसि प्रीति बड़ाई' का अर्थ रा० प्र० में इस प्रकार है—'प्रभु

स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥५॥

शब्दार्थ—**बारेहि**=बालपन, थोड़े ही दिनोंकी अवस्था। **पति**=स्वामी। '**मानी**'-मानना=स्वीकार वा अंगीकार करना, ध्यानमें लाना, संकल्प करना। पुनः, **मानी**=अभिमानी। (पं० रा० कु०) रति **मानी**=प्रेमपन ठाना, अनुरक्त हो गये। प्रेमके अभिमानी हुए, यथा *'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।'* *'तृन तोरी'*— तिनका तोड़ना लोकोक्ति है, मुहावरा है। सुन्दर वस्तुको देखकर बुरी नजरसे बचानेके लिये तिनका तोड़नेकी रीति है। तिनकेकी ओट लेकर वा उसको तोड़कर देखती हैं कि नजरका प्रभाव उसीपर पड़े, बच्चेको नजर न लगे। यथा *'सुंदर तनु सिसु बसन बिभूषन नखसिख निरखि निकैया। दलि तृन प्रान निछावरि करि करि लैहैं मातु बलैया॥'* (गी० १। ९। २)

अर्थ—बालपनेहीसे अपना हितैषी और स्वामी जानकर श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम किया, अर्थात् रामचरणानुरागी हुए (एवं रामप्रेमाभिमानी हुए)॥३॥ श्रीभरत-शत्रुघ्न दोनों भाइयोंमें स्वामी-सेवकमें जिस प्रीतिकी प्रशंसा है वैसी प्रीति हुई॥४॥ श्याम-गौर दोनों सुन्दर जोड़ियोंकी छबिको माताएँ तिनका तोड़-तोड़कर देखती हैं॥५॥

टिप्पणी—१ (क) *'बारेहि ते निज हित ——'*, यह स्वाभाविकी भक्ति है, साधनसे नहीं हुई है। *'लछिमन रामचरन रति मानी'* अर्थात् श्रीरामजीके सेवक हुए। चरणमें अनुराग होना सेवक-भावका द्योतक है। पायस-भागके अनुसार यह भाव उनमें हुआ। *'कौसल्या कैकेयी हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि॥'* (१९०। ४) इस अर्धालीका भाव यहाँ चरितार्थ करते हैं। अर्थात् यहाँ पायसके भागोंका अभिप्राय स्पष्ट करते हैं कि कौसल्याजी और कैकेयीजीके हाथोंपर धरकर तब सुमित्राजीको दो भाग क्यों दिये गये थे। विशेष (१९०। ४) में लिखा जा चुका है। (ख) *'प्रभु सेवक जसि।——'* अर्थात् शत्रुघ्नजीने बचपनसे ही भरतजीको अपना स्वामी जानकर प्रीति की। चारों चरणोंका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मणजी श्रीरामजीके पास खेलते हैं और शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीके पास खेलते हैं। जब माता उनको उनके स्वामीके पास कर देती हैं तब किलकारी मारते, प्रसन्न होते हैं। यह भाव *'बारेहि ते——'* का है। [*'बारेहि ते निज हित पति जानी'* दोनों अर्धालियोंके साथ है।]

नोट—१ (क) अ० रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—'**लक्ष्मणो रामचन्द्रेण शत्रुघ्नो भरतेन च। द्वन्द्वीभूय चरन्तौ तौ पायसांशानुसारतः॥**' (१। ३। ४२) अर्थात् पायसांशोंके अनुसार लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजीके और शत्रुघ्नजी भरतजीके जोड़ीदार होकर रहने लगे। पुनः, यथा—'**बाल्यात्प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः।—— भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः॥ प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत्तथा प्रियः।——**'(वाल्मी० १। १८। २८—३३) अर्थात् लक्ष्मणजी बाल्यावस्थासे ही श्रीरामजीके अनुगत थे। ——लक्ष्मणजीके छोटे भाई शत्रुघ्नजी भरतजीको प्राणोंके समान प्रिय थे और भरतजी शत्रुघ्नजीको प्राणप्रिय थे। पुनश्च, यथा— '**लक्ष्मणस्तु सदा राममनुगच्छति सादरम्॥' सेव्यसेवकभावेन शत्रुघ्नो भरतं तथा॥**——(अ० रा० १। ३। ६१-६२)— *'प्रभु सेवक जसि'* का भाव इससे स्पष्ट है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि दूसरी बात यह है कि तुरीयके विभु और जाग्रत्‌के विभुका सदा साथ है, क्योंकि तुरीयकी प्राप्ति जब होगी तब जाग्रत्‌से ही होगी, सुषुप्ति या स्वप्नसे नहीं हो सकती। इसी भाँति सुषुप्ति और स्वप्नका साथ है; अतः दोनोंके विभुओंका भी साथ स्वाभाविक है।

(ख)☞ प्रायः लोग प्रश्न करते हैं कि बचपनसे प्रीति कैसे जानी गयी? इसका एक उत्तर तो ऊपर टिप्पणीमें आ ही गया। दूसरा प्रमाण सत्योपाख्यान अ० २८में इसका मिलता है। उसमें कथा इस

सेवकमें जैसी प्रीति (और) बड़ाई चाहिये वैसी हुई।' श्लिष्ट शब्दद्वारा कविजी एक और अर्थ प्रकट करते हैं कि 'भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई 'प्रभु' श्रीरामचन्द्रजीके वैसे ही सेवक हैं जैसे सेवककी प्रीतिकी बड़ाई है। इस तरह यहाँ 'विवृतोक्ति अलङ्कार' है पर उदाहरणका अङ्गी है। (वीर)

प्रकार है कि एक बारकी बात है कि कौसल्याजीकी दासी किसी कारणसे श्रीसुमित्राजीके महलमें गयी तो वहाँ उसने दोनों पुत्रों-(श्रीलक्ष्मण, शत्रुघ्नजी-) को राजाकी गोदमें खेलते देखा और वहाँसे कौसल्याजीके महलमें आयी तो यहाँ भी उसने उन दोनोंको देखा। संदेह होनेसे वह बीसों बार कौसल्या-भवनसे सुमित्रा-भवनमें और सुमित्रा-भवनसे कौसल्या-भवनमें गयी-आयी। यह देख राजाने उससे हठ करके पूछा कि तेरा चित्त कैसा मोह-भ्रममें पड़ा हुआ है, क्या बात है जो तू बीसों बार इधर-से-उधर जाती-आती है? तब उसने बताया कि यहाँ श्रीसुमित्राजीके दोनों पुत्रोंको श्रीरामजीके निकट देखती हूँ और वहाँ दोनोंको आपकी गोदमें बैठे पाती हूँ; इससे मैं परम संदेहमें पड़ रही हूँ।—'**इमौ च बालकौ राजन् शत्रुसूदनलक्ष्मणौ। कौसल्याङ्के मया दृष्टौ रामस्य निकटे स्थितौ॥ अत्रैव तव चाङ्के वै वर्त्तेते सुमनोहरौ। तत्र गच्छामि तत्रैव चात्र ह्यायामि अत्र वै॥**' (१८-१९) राजा यह सोचकर कि यह क्या बक रही है, शीघ्र कौसल्याजीके भवनमें गये और वहाँ श्रीरामके साथ लक्ष्मण, शत्रुघ्नको बालक्रीडा करते देखा, फिर कौसल्या-भवनके झरोखेसे सुमित्रा-भवनमें दोनों पुत्रोंको माताके पास देखा तब तो राजा परमाश्चर्यको प्राप्त हो कुछ निर्णय न कर सके। यथा—'**ययौ शीघ्रं तया सार्द्धं कौसल्याभवनं नृपः॥ ...... तत्र गत्वा नरेशोऽपि चात्मनो ददृशे सुतौ॥ क्रीडन्तौ रामचन्द्रेण सुमित्रातनयौ तु तौ। तस्मिन्काले स्मितं चक्रे कौसल्या यत्र तिष्ठति॥ गवाक्षे च मुखं कृत्वा सुमित्राभवने नृपः। विलोकयामास सुतौ क्रीडन्तौ जननीयुतौ। ...... यदा तु निर्णयं कर्तुं न शशाक महीपतिः॥**' (२१—२४, २६) तब गुरु वसिष्ठ बुलाये गये और उनसे सब वृत्तान्त कहा गया। उन्होंने क्षणभर ध्यानकर विचार किया कि यह इनकी बालक्रीडा है। ये एक क्या दस-बीस, हजार तथा करोड़ों, असंख्यों रूप धारण कर सकते हैं, इसमें संशय क्या, किंतु राजाको यह बताना उचित नहीं, नहीं तो उनको वात्सल्यरसका सुख न मिलेगा, इत्यादि। उन्होंने कहा कि यह गन्धर्वकी माया है, हम उपाय करते हैं, अब यह माया न होगी और अन्तमें राजासे कहा कि जैसा मैं कहता हूँ वैसा आप करें। लक्ष्मणजी सदा रामजीके महलमें उनके साथ खेलें और शत्रुघ्नजी भरतजीके साथ रहें तो आगे ऐसी माया फिर न होगी। यथा—'**यथाब्रवीमि राजेन्द्र तथा कुरु नरोत्तम। रामस्तु लक्ष्मणेनापि सदा क्रीडतु मन्दिरे॥ भरतो रिपुहन्ता च वयसोशानुसारतः। न कदाचिद्भ्रमस्त्वेवं तव राजन्भविष्यति॥**' (३९-४०) राजाने यह बात सुमित्राजीसे कही और उन्होंने वैसा ही किया। नित्य ही प्रातःकालमें वे लक्ष्मणजीको उठाकर श्रीरामजीके पास और शत्रुघ्नजीको भरतजीके पास पहुँचा देती थीं।

उपर्युक्त चरितसे यह सिद्ध हुआ कि चारों भाई अलग-अलग रहते थे। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीके साथ और शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी सेवामें रहना चाहते थे। यह कैसे हो; उसके लिये यह लीला रची गयी। वसिष्ठजीने उनका आशय जानकर वैसा ही उपाय कर दिया। इस चरितसे स्पष्ट है कि बालपनेसे ही श्रीलक्ष्मणजीका प्रेम श्रीरामजीमें और शत्रुघ्नजीका श्रीभरतजीमें था।

टिप्पणी—२ '*स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी* ......' इति। लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी अपने-अपने स्वामीके पास रहनेसे प्रसन्न रहते हैं। अतः माता लक्ष्मणजीको रामजीके पास और शत्रुघ्नजीको भरतजीके पास रख देती हैं। इस प्रकार (श्याम-गौरकी) दो जोड़ियाँ हो जानेसे अधिक शोभा हो जाती है। इसीसे जोड़ीकी छबि देखती हैं। यथा—'*दीन्हि असीस देखि भल जोटा।*' (२६९। ७) '*स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥*' (२२९। २) [इन दोनोंमें श्याम-गौरकी एक जोड़ी है। आगे भी कहा है—'*सखि जस राग लखन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥*' (३११। ३) इत्यादि। '*स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी*' का ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि राम-भरत दोनों श्यामकी एक जोड़ी और लक्ष्मण-शत्रुघ्न दोनों गौर-की एक जोड़ी। पर एक श्याम और एक गौर अर्थात् राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्नकी जोड़ी ही प्रसंगानुकूल है। अ० रा० में भी श्याम-गौरकी एक जोड़ी कहा है।]

चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥ ६॥
हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥ ७॥

शब्दार्थ—'**सील**'=शुद्ध पवित्र आचरण, चरित, स्वभाव। यथा—'**शुचौ तु चरिते शीलम्** इत्यमरे। पुनः शील, यथा भगवद्गुणदर्पणे—'**हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रं संश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः॥**' अर्थात् हीन, दीन, मलिन, बीभत्स और कुत्सित ऐसे मनुष्यके साथ भी बड़ोंके निष्कपट प्रेम वा व्यवहारको सुशीलता कहा है। रूप=जिस सौन्दर्यके कारण शरीर बिना भूषणके ही भूषित-सरीखा जान पड़े उसे रूप कहते हैं। यथा—'**अंगान्यभूषितान्येव वलयाद्यैर्विभूषणैः। येन भूषितवद्भान्ति तद्रूपमिति कथ्यते॥**' (श्रीगोविन्दराजीय टीका वाल्मी० ३। १। १३)।=वह सौन्दर्य जिससे अलङ्कारादि भी सुशोभित होते हैं।

अर्थ—(यों तो) चारों भाई शील, रूप और गुणोंके धाम हैं तथापि श्रीरामजी अधिक सुखसागर हैं एवं सुखसागर श्रीरामजी (सबसे) अधिक हैं॥ ६॥ (उनके) हृदयमें कृपारूपी चन्द्रमा प्रकाशित है। (उनकी) मनको हरनेवाली मुसकान (उस कृपाचन्द्रकी) किरणोंको सूचित करती है॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) '*तदपि अधिक*' का भाव कि यद्यपि ऐसी शोभा सभीकी हो रही है कि सभी शोभाके धाम हैं तथापि श्रीरामजी सबसे अधिक हैं। (ख) '*अधिक सुखसागर रामा*' का भाव कि 'सब भाइयोंके दर्शनसे सुख होता है पर श्रीरामजीके दर्शनसे सुखका समुद्र होता है। (अर्थात् सुखसमुद्र हृदयमें उमड़ आता है।) पुनः भाव कि तीनों भाई शील, रूप, गुण और सुखके धाम हैं और श्रीरामजी शील, रूप, गुणके समुद्र हैं एवं सुखके समुद्र हैं। धामसे समुद्र अधिक है। [गीतावलीमें भी ऐसा ही कहा है। यथा—'***या सिसुके गुन नाम बड़ाई। को कहि सकै सुनहु नरपति श्रीपति समान प्रभुताई॥ जद्यपि बुधि बय रूप सील गुन समय (सम ये) चारु चारिउ भाई। तदपि लोक लोचन चकोर ससि राम भगत सुखदाई॥ २॥ सुर नर मुनि करि अभय दनुज हति हरिहि धरनि गरुआई। कीरति बिमल बिश्व अघ मोचनि रहिहि सकल जग छाई॥ ३॥ याके चरन सरोज कपट तजि जो भजिहैं मन लाई। सो कुल-युगल सहित तरिहैं भव, यह न कछू अधिकाई॥ ४॥ सुनि गुरुवचन पुलक तन दंपति हरष न हृदय समाई। तुलसिदास अवलोकि मातु मुख प्रभु मन में मुसुकाई॥***' (पद १६) (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि शीलसे ऐश्वर्य और रूपसे माधुर्यगुणोंके धाम सूचित किये। (घ) पहले चारोंको शीलादिका धाम कहकर फिर भेद प्रकट करना 'विशेषक' अलङ्कार है।]

टिप्पणी—२ (क) '*हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा*' इति। श्रीरामजीको सुखसागर कहा। माताओंको छबि दिखाकर सुख देते हैं, यह पूर्व कह आये। यथा—'***स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥***' भाइयोंको अनुग्रह करके सुख देते हैं यह यहाँ बताया। क्योंकि सब भाई सेवक-भावसे प्रीति करते हैं। (ख) '*सूचत किरन*' का भाव कि अनुग्रहरूपी चन्द्रमा देख नहीं पड़ता, मनोहर हासके द्वारा सूचित होता है। [इस भावके अनुसार अर्थ होगा कि 'मनोहर हास (रूपी) किरण (उस चन्द्रमाको) जनाता है।'—यही अर्थ रा० प्र० और पंजाबीजीने दिया है। पाण्डेजी अर्थ करते हैं कि 'उस-(अनुग्रहरूपी चन्द्रमा-) की किरण मनोहर हँसनिमें देख पड़ती है।' यहाँ अनुग्रह चन्द्रमा है, हास किरण है और हृदय आकाश है। प्रभुकी यह अनुग्रहकी सुन्दर हँसी भक्तोंके हृदयकी जलनको मिटाती है। यथा—'***जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।***' (२। २३९। ८) यहाँ 'परम्परित रूपक अलङ्कार' है।]

कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारै कहि प्रिय ललना॥ ८॥

दो०—ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कोसल्या कें गोद॥ १९८॥

शब्दार्थ—'**पलना**' (पालना, पल्यंक)=रस्सियोंके सहारे टँगा हुआ एक प्रकारका गहरा खटोला या बिस्तरा, जिसपर बच्चोंको सुलाकर झुलाते हैं; हिंडोला। '**दुलारहिं**'=दुलार लाड़-प्यार करती हैं; बहलाकर प्यार करती हैं। प्रेमके कारण बच्चोंको प्रसन्न करनेके लिये उनके साथ जो अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ की जाती हैं, वे सब इस शब्दमें आ जाती हैं। '**ललना**'=बच्चोंके प्यारके नाम। यथा—'***बाछरू छबीलो छौना***

छगन मगन मेरे कहत मल्हाइ मल्हाई', 'ललन लोने लैरुआ बलि मैया। सुख सोइये नींद बेरिया भई चारु चरित चारिउ भैया॥ कहति मल्हाइ लाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया।......' (गी० १। १७)

अर्थ—कभी गोदमें और कभी उत्तम पालनेमें माताएँ प्यारे लालन (इत्यादि प्यारके नाम) कह-कहकर उनका लाड़-प्यार करती हैं॥ ८॥ जो ब्रह्म व्यापक, निर्दोष और मायासे निर्लिप्त वा मायासे रहित, सत्त्व, रज और तम तीनों मायिक गुणोंसे परे त्रिगुणातीत, क्रीड़ारहित और अजन्मा है वही प्रेमाभक्ति वा प्रेम और भक्तिके वश कौसल्याजीकी गोदमें है॥ १९८॥

टिप्पणी—१ (क) '*कबहुँ उछंग*......' इति। इस अर्धालीमें सूक्ष्मरीतिसे दोलारोहण वा दोलोत्सवका वर्णन है। यह माताओंका उत्साह है कि कभी गोदमें ले लेती हैं और कभी पालनेमें झुलाती हैं। गीतावली पद १५ और १८ से २१ तक इस सम्बन्धमें पढ़नेयोग्य हैं। इस उत्सवमें बच्चेको शृङ्गार करके पालनेपर लिटाकर गान किया जाता है। (ख) '*कबहुँ उछंग*' अर्थात् गोदमें लेकर हलराती हैं। '*कबहुँ बर पलना*' अर्थात् पलनेपर लिटाकर झुलाती हैं। यथा—'*लै उछंग कबहूँ हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥*' (ग) '*बर*' कहकर पालनेके बनावकी सुन्दरता कही। यथा—'*कनक रतन मय पालनो रच्यो मनहुँ मारसुतहार। बिबिध खिलौना किंकिनी लागे मंजुल मुक्ताहार। रघुकुलमंडन रामलला॥ १॥ जननि उबटि अन्हवाइ कै मनि भूषन सजि लियो गोद। पौढ़ाए पटु पालने सिसु निरखि मगन मन मोद। दसरथनन्दन रामलला॥*' (गी० १। १९)

टिप्पणी—२ (क) '*व्यापक ब्रह्म*......' इति। तात्पर्य कि प्रेम-भक्तिके वश होकर परमेश्वरने अपनी मर्यादा छोड़ दी। जो सर्वत्र व्यापक है वह ही एक जगह आ प्रकट हुआ। जो ब्रह्म अर्थात् बृहत् है वही छोटा हो गया, राजाका लड़का बना अर्थात् जीव कहलाया और इतना छोटा हो गया कि कौसल्याजी उसे गोदमें लिये हैं। (यहाँ 'द्वितीय अधिक अलङ्कार' है) जो निरञ्जन (मायारहित) है वह मायारचित पृथ्वीपर लीला करते देखनेमें आया। जो निर्गुण है उसने गुण धारण किये वा जो अव्यक्त है वह व्यक्त हुआ। जो विनोद-विगत है वह विनोद कर रहा है। यथा—'*एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा।*' जो अजन्मा है उसने जन्म लिया और माताकी गोदमें है।—यह सब क्यों? केवल '*प्रेम भगति बस*'। मनु-शतरूपाजीके प्रेम और भक्तिके वश होकर वे प्रभु आज मर्यादा त्यागकर वात्सल्य-सुख दे रहे हैं। तथा—'*देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥*...... *नृप तव तनय होब मैं आई।*' '*होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।*' (ख) '*कौसल्या कें गोद*' इति। यहाँ-(अर्थात् जबतक माताकी गोदमें हैं तब-) तक विशेष सुख माताहीको है, इसीसे माताका नाम यहाँ दिया। पुनः, भाव कि जो योगियोंके मनमें नहीं आते वे ही कौसल्याकी गोदमें आ गये, यह प्रेमकी प्रबलता है, प्रेमकी महिमा है।

नोट—१ गोस्वामीजीकी यह शैली है कि जब माधुर्यका वर्णन होता है तब उसके साथ ऐश्वर्यका टाँका लगा देते हैं, जिसमें पाठक मोहमें न पड़ जायँ। कलाकी भाषामें इसीको नाटकीय और महाकाव्यकलाके एकीकरणकी युक्ति कहते हैं।

नोट—२ श्रीबैजनाथजीका मत है कि इस दोहेमें सूर्यावलोकनोत्सव सूचित कर दिया है। कौसल्याजी आज ज्येष्ठ शु० एकादशीको शिशुको गोदमें लेकर आँगनमें निकली हैं। इसीसे यहाँ सर्वाङ्गकी माधुरीका वर्णन करेंगे, क्योंकि अब सबोंने प्रभुका दर्शन किया। गोदका ध्यान आगे देते हैं।

प० प० प्र० का मत है कि यहाँ गोदुग्धप्राशनविधि सूचित किया है, जो शास्त्रानुसार जन्मनक्षत्रमें एकतीसवें दिन होता है। '*कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना।*......' यह दो० १९५ के बादसे अट्ठाईसवीं पंक्ति है। विशेष विस्तार मराठी गूढ़ार्थचन्द्रिकामें किया है, जो छपनेवाली है।

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥ १॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥ २॥

अर्थ—नीलकमल और जलसे भरे हुए बरसनेवाले गम्भीर मेघोंके समान श्याम शरीरमें करोड़ों कामदेवोंकी छबि है॥ १॥ लाल-लाल चरणकमलोंके नखोंकी ज्योति (चमक, द्युति) ऐसी जान पड़ती है मानो कमलदलोंपर मोती बैठे हैं (अर्थात् जड़े हुए हैं)॥ २॥

☞ पाण्डेजी प्रथम अर्धालीका अर्थ यह करते हैं—'श्रीरामजीके श्याम शरीरमें करोड़ों कामदेवों, करोड़ों नीलकमलों और करोड़ों गम्भीर नीले बादलोंकी छबि है।'

टिप्पणी—१(क) *'काम कोटि छबि'* इति। नाम कहकर अब रूप कहते हैं। कामदेव श्याम है और छबिमान् भी। [पुनः, सृष्टिमात्रमें कामदेव सबसे अधिक सुन्दर माना गया है, यथा—'**काम से रूप**'।' (क० ७। ४३) अतएव उसकी उपमा दी कि करोड़ों ऐसे कामदेवोंके एकत्र होनेपर जैसी छबि हो वैसी छबि श्रीरामजीके श्याम शरीरकी है। पुनः, भाव कि एक कामदेवसे त्रैलोक्य मोहित हो जाता है तब जिसमें असंख्यों कामदेवकी छबि है उसका दर्शन कर भला ब्रह्माण्डमें कौन ऐसा है जो न मोहित हो? (रा० प्र०)] (ख) कामकी 'छबि' और मेघकी 'गंभीरता' धर्म कहे, पर नीलकंजके धर्म न कहे, क्योंकि इसके धर्म स्पष्ट हैं, सब जानते हैं कि नीलकमलमें श्यामता और कोमलता धर्म हैं, यथा—'**नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं**'।' (अ० मं० श्लो० ३) **बारिद**=जल देनेवाला सजल मेघ। (ग) निर्गुण ब्रह्मके विशेषण व्यापक, निरंजन, अज आदि ऊपर कह आये। वही ब्रह्म जब सगुणरूपसे मनु-शतरूपाजीके सामने आया तब उसके स्वरूपमें तीन प्रकारकी नीलता (नीलापन) कही है—*'नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।'* वही तीनों नीलिमाएँ कौसल्याजीके यहाँ आनेपर कही हैं। *'नीलकंज बारिद गंभीरा'* ये दो यहाँ कहीं और नीलमणिको उत्तरकाण्डमें कहा है, यथा—*'मरकत मृदुल कलेवर स्यामा।'* (७। ७। ५) [यहाँ नीलमणिकी उपमा न दी, क्योंकि अभी प्रभुकी शैशवावस्था है जिसमें सब अङ्ग अत्यन्त कोमल होते हैं। जब *'अजिरबिहारी'* होंगे तब मर्कतमणिकी उपमा देंगे। मणि पुष्ट और कठोर होता है। उत्तरकाण्डमें महलके आँगनमें खेलते समयका ध्यान है, यथा—*'बाल बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई॥ मरकत मृदुल।'* (७। ७६) और मनु-शतरूपाके सामने किशोरावस्थासे प्रभुने दर्शन दिये हैं; इससे वहाँ 'नीलमणि' की भी उपमा दी गयी।

टिप्पणी—२ (क) *अरुन चरन पंकज'* इति। यहाँ नखशिख वर्णन करते हैं इसीसे चरणसे प्रारम्भ किया। [वात्सल्य रसका प्रसंग होनेसे यहाँ चरणसे ध्यानका वर्णन उठाया। (वै०) चरणोंको अरुण कहकर यहाँ तलवोंका वर्णन जनाया। चरण-तल अरुण हैं। चरणोंके ऊपरका भाग श्याम है सो ऊपर *'काम कोटि छबि स्याम सरीरा'* में कह चुके हैं। पदपीठ नीलकंज और पद-तल अरुण-कमलके समान है। प्रथम सारे शरीरकी शोभा कहकर, अब पृथक्-पृथक् सब अङ्गोंकी शोभा कहते हैं। (ख) *'कमल दलन्हि बैठे जनु मोती'* इति। लक्ष्मीजीका वास कमलमें है। वही यहाँ कहते हैं। मोती लक्ष्मी है सो कमलदलमें बैठी है। लक्ष्मीजी चरणसेविका हैं। अतएव मोतीका कमलदलोंपर बैठना कहकर जनाया कि लक्ष्मीजी ही कमलमें भगवान्‌की चरण-सेवाके लिये ही आ बैठी हैं।

नोट—१ कमलदलपर मोती रुक नहीं सकता, अतएव *'बैठे'* पद देकर उत्प्रेक्षा की कि मानो मोती उसपर जमाये वा जड़े गये हैं वा आकर स्थिर हो गये हैं। यहाँ मोतियोंने अपना रंग त्यागकर अरुण कमलका रंग ग्रहण किया है। नखोंमें तलवोंकी अरुणता झलक रही है। मिलान कीजिये—*'स्याम बरन पदपीठ अरुन तल लसत बिसद नखश्रेनी। जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी॥'* (गी० ७। १५) *'पदुमराग रुचि मृदु पदतल ध्वज अंकुस कुलिस कमल यहि सूरति। रही आनि चहुँ बिधि भगतन्हि की जनु अनुरागभरी अंतरगति॥'* (गी० ७। १७। २) (२) *'काम कोटि ...... गंभीरा'* में 'वाचक लुप्तोपमा' है और *'कमलदलन्हि ......'* में 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। (वीर)

रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥ ३॥

अर्थ—(दाहिने चरणके तलवेमें) वज्र, ध्वजा और अंकुश चिह्न शोभित हैं। नूपुर (घुँघरू, पैंजनी, पाजेब) की ध्वनि (शब्द) सुनकर मुनियोंका मन मोहित हो जाता है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) [श्रीरामजीके चरणमें अड़तालीस (प्रत्येक चरणमें चौबीस-चौबीस) चिह्न वा रेखाएँ कही गयी हैं। परंतु ऋषियोंने ध्यानके लिये, किसीने २२, किसीने १३, किसीने ९ इत्यादि विशेष उपयोगी समझकर उतनेहीका वर्णन किया है। भक्तिसुधास्वादतिलक भक्तमाल (श्री १०८ सीतारामशरण भगवानप्रसाद श्रीरूपकलाजीकृत), लाला भगवानदीनजीके 'रामचरणचिह्न', मुं० तपस्वी रामसीतारामीयजीके भक्तमाल और महारामायण इत्यादिमें इनका विस्तृत वर्णन है। श्रीमद्गोस्वामिपादने प्रायः चार चिह्नोंको विशेष उपयोगी जानकर उन्हींका अंकित होना वर्णन किया है। सब चिह्नोंका ध्यान भी कठिन है। भक्तिरसबोधिनी टीकामें श्रीप्रियादासजीने इन चारोंके ध्यानके फल यों कहे हैं—*'मनही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं ताके लिये अंकुस लै धार्‍यो हिये ध्याइए। ऐसे ही कुलिस पापपर्वतके फोरिबे को भक्ति निधि जोरिबेको कंज मन ल्याइए॥' 'छिनमें सभीत होत कलि की कुचाल देखि ध्वजा सो विशेष जानो अभयको विश्वास है।'*] (ख) यहाँ तीन ही रेखाएँ लिखीं। चौथीका नाम उत्तरकाण्डमें दिया है, यथा—*'ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।'* (७। १३। ४) एक जगह चार रेखाओंके नाम कहकर सर्वत्र उन चारोंको जना दिया है; बारम्बार सबका उल्लेख नहीं करते। —यह गोस्वामीजीकी शैली सर्वत्र ग्रन्थभरमें देखी जाती है; यथा—*'ललित अंक कुलिसादिक चारी।'* (७। ७६) इसीसे यहाँ 'कमल' की रेखा नहीं कही गयी।

नोट—१ पंजाबीजीका मत है कि यहाँ तीनहीसे सब चिह्न समझ लेना चाहिये। (पर गोस्वामीजीने *'चारी'* शब्द देकर चार ही विशेषोपकारी चिह्नोंका ही उल्लेख मानसमें किया है।)

नोट—२ बैजनाथजीका मत है कि वज्र दक्षिण पदके अँगूठेके और अंकुश तथा ध्वजा एँड़ीके निकट होनेसे प्रसिद्ध देख पड़ते हैं इससे वही तीन कहे। अथवा, पापका नाश, मनका वश करना और कामादि शत्रुओंसे विजयका ही प्रयोजन था इससे वही तीन कहे। अथवा, तीन ही कहे कि इन्हें सुनकर लोग और चिह्नोंको भी समझ लेंगे। त्रिपाठीजीका भी मत है कि यहाँ तीनका वर्णन है; क्योंकि अभी अत्यन्त शिशु हैं, इससे रेखाएँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं, तीन स्पष्ट हैं, कमल-रेखा अभी स्पष्ट नहीं है, बड़े होनेपर स्पष्ट होगी।

टिप्पणी—२ (क) *'नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे'* इति। मुनिमनका मोहित होना कहकर नूपुरके शब्दका अतिशय मधुर, मनोहर और आह्लादवर्द्धक होना जनाया। यथा—*'नूपुर चारु मधुर रवकारी।'* (७। ७६। ७) यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है। मुनिके मन *'विषय रस रूखे'* होते हैं, सांसारिक विषयोंमें कदापि नहीं जाते, सो जब वे भी मोहित हो जाते हैं तब तो यह निश्चय है कि शब्द अवश्य 'अप्राकृत' होगा। (ख) नूपुर-ध्वनि यहाँ कहा। यह शब्द क्यों होता है, यह आगे *'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई'* में कहा है। अर्थात् घुटने और हाथोंके बलसे विचरते हैं, तब नूपुर बजते हैं।

कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गँभीर जान जिहिं देखा॥ ४॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हिय हरि नख अति सोभा रूरी॥ ५॥

शब्दार्थ—**किंकिनी** (किंकिणी=करधनी, कटिसूत्र, क्षुद्रघण्टिका, जेहर। **हरि नख**=बघनहाँ; बघनखा; बाघ या सिंहका नख (नाखुन)। यह एक आभूषण है जिसमें बाघके नाखुन चाँदी या सोनेमें मढ़े होते हैं, जो गलेमें तागेमें गूँथकर पहिना जाता है। यथा—*'कठुला कंठ बघनहाँ नीके। नयन सरोज अयन सरसीके॥'* (गी० १। २८) प्रायः बच्चोंको यह इसलिये पहिनाते हैं कि वे वीर हों और डरे नहीं। **जुत**=युत-युक्त। **भूरी**=बहुत, समूह। **रूरी**=उत्तम, सुन्दर, अच्छी, श्रेष्ठ, निराली।

अर्थ—कमरमें किंकिणी और पेटपर त्रिबली है। नाभि (तोंदी, तुन्दी, ढोंढी) गहरी है। उसकी गहराईको तो वही जाने जिसने देखा है॥ ४॥ बहुत-से आभूषणोंसे युक्त (आजानु; घुटनेपर्यन्त) लम्बी-लम्बी भुजाएँ हैं। हृदयपर बघनखाकी छटा अत्यन्त निराली है॥ ५॥

टिप्पणी—(क) १ *'नूपुर धुनि………'* के पश्चात् *'कटि किंकिनी………'* को कहकर सूचित किया कि किंकिणीमें भी मधुर ध्वनि होती है। यथा—*'कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई।'* (७। ७६। ८)

['त्रय रेखा'=त्रिबली अर्थात् वह तीन बल जो पेटपर पड़ते हैं। इन बलोंकी गणना सौन्दर्यमें होती है। यथा—*'रुचिर नितंब नाभि रोमावलि त्रिबलि बलित उपमा कछु आव न।'* (गी० ७। १६) दोहा १४७ *'उदर रेख बर तीनि।'* में भी देखिये। रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'त्रिरेखा सूचित करती है कि त्रिदेव इसी चिह्नसे उत्पन्न हुए हैं।'] (ख) *'नाभि गँभीर जान जिहिं देखा'* इति। गम्भीरता नाभिकी शोभा है। *'जान जिहिं देखा'* अर्थात् जिसने देखा वही जानता है, पर कह वह भी नहीं सकता, तब हम क्या कहें ? यहाँ शृङ्गारके वर्णनमें बीभत्स वर्णन करना रसाभास है, इसीसे गुप्ताङ्गोंका वर्णन नहीं किया गया।

'जान जिहिं देखा' इति।

पं० रामकुमारजीका मत है कि 'नाभिकी गम्भीरता कौसल्याजीने देखी है, सो वे ही जानें, कह वे भी नहीं सकतीं। *'जिहिं देखा'* एकवचन है। एक वचन देकर जनाया कि रूपके देखनेवाले बहुत नहीं हैं, इसीसे *'जिन्ह देखा'* ऐसा बहुवचन नहीं कहा।'

प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंका यह मत है कि यहाँ ब्रह्माजीकी ओर इशारा है। भगवान्ने जब सृष्टिकी उत्पत्ति करनी चाही तब प्रथम जल उत्पन्न करके 'नारायण' नाम-रूपसे उसमें शयन किया, फिर उनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्माजी। ब्रह्माजीने जब इधर-उधर कुछ न देखा तब वे कमलनालमें प्रवेशकर उसके आधारका पता लगाने चले। सौ वर्षतक इसी खोजमें फिरते रह गये, पर पता न लगा। नाभिकमलका अन्त न पाया तब वे समाधिस्थ हो गये। सौ वर्ष बीतनेपर भगवान्ने दर्शन दिया। (भा० स्क० ३ अ० ८) यहाँ गोस्वामीजी उन्हींकी साक्षी देते हैं कि उसकी गहराईकी थाह वे तो पा ही न सके, तब दूसरे किस गिनतीमें हैं।

श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'कुरानशरीफमें भी लिखा है कि भगवान्का सिंहासन जलपर है।' ' Whose throne is on the waters' (Yusuf Ali's translation of the Quran)

☞ राजारामशरण लमगोड़ा—तुलसीदासजीके नखशिखवर्णन ऐसे सुन्दर हैं और उनमें देश, काल, पात्र, अवस्था और अवसरका इतना सूक्ष्म विचार है कि यदि श्रीरामजीके सभी ऐसे वर्णन एकत्रित करके रखे जायँ तो उनके जीवनकी सारी अवस्थाओंका बड़ा ही सुन्दर कलापूर्ण चित्रण हो जावेगा। चित्रकारी-कलाके भी वे बड़े सुन्दर शाब्दिक नमूने हैं।

टिप्पणी—२ (क) किंकिणीके बाद *'भुज बिसाल भूषन जुत भूरी'* कहकर सूचित करते हैं कि हाथमेंके कंकण भी बज रहे हैं। कंकणमें शब्द होता है, यथा—*'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि'*। इस प्रकार कंकण, किंकिणी और नूपुर तीनोंकी ध्वनि कही। (ख) यहाँ हृदयमें हरिनखकी अति शोभा कहते हैं और (आगेके चरणमें) उरमें मणियोंके हारकी शोभा कहते हैं, यह भेद कहकर जनाया कि मणि तारागण हैं और हरिनख चन्द्रमा है। तारागणसे चन्द्रमाकी शोभा अधिक है। (ग) [*'भुज बिसाल'* अर्थात् आजानुबाहु हैं। बड़े भाग्यशालियोंके ऐसे विशाल बाहु होते हैं। महात्मा श्री (राम) नारायणदासजी रत्नसागर श्रीजनकपुर और पं० श्रीजानकीवरशरणजी महाराज श्रीअयोध्याजी आजानुबाहु थे। इनकी कीर्ति विख्यात है। विशाल कहकर जनाया कि जनकी रक्षामें सदा सर्वत्र तत्पर हैं। इनकी विशालता भुशुण्डिजीने जानी है। यथा—*'सप्त आवरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि। गएउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भएउ बहोरि॥'*' पुनः यथा—*'जहाँ जमजातना घोर नदी भट कोटि जलच्चर दंत टेवैया। जहँ धार भयंकर वार न पार न बोहित नाव न नीक खेवैया। तुलसी जहँ मातु पिता न सखा नहिं कोउ कहूँ अवलंब देवैया॥ तहाँ बिनु कारन राम कृपाल बिसाल भुजा गहि काढ़ि लेवैया।'* (क० ७। ५२) (ख) कुछ लोगोंने शोभा और रूरीका एक ही अर्थ मानकर पुनरुक्तिके भयसे *'रूरी'* को *'हिय'* का विशेषण मान लिया है। रूरी=सुन्दर।]

नोट—१ *'भूषन जुत भूरी'* इति। भूषणोंके नाम न दिये जिसमें भावुक समयके अनुसार जो चाहें लगा लें।

नोट—२ जनके मोहरूपी हाथीको डरवानेके लिये हरिनख धारण किया है। (रा० प्र०)

उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्र चरन देखत मन लोभा॥६॥

शब्दार्थ—पदिक=बज्रबट्टू, चौकी, धुकधुकी। *'पदिकहार भूषन मनि जाला'* (१४७। ६) देखिये अयोध्याविन्दु (देवतीर्थस्वामीकृत) में लिखा है—*'पदिकहार रघुबरकंठनमें सात मणिनको झलकि रहा। मोहनमाला जाहि कहत हैं अधिक छबिनमें छलकि रहा। भावी रामचरित जनु सातो काण्डनसे हिय हलकि रहा। स्ववरण-सूतनसे ग्रन्थित लखि देवहुको मन ललकि रहा।'*

अर्थ—वक्ष:स्थलपर मणियोंका हार और पदिककी शोभा हो रही है। भृगुलता देखते ही मन लुभा जाता है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'उर मनिहार'* इति । यहाँ किसी मणिका नाम न देकर जनाया कि हारमें सब प्रकारके उत्तम माङ्गलिक मणि हैं। मणिहार और पदिककी शोभा एक साथ कहकर सूचित करते हैं कि मणिहार और पदिक दोनों मिलकर शोभित हो रहे हैं। यथा—*'गज मनि माल बीच भ्राजत कहि जात न पदिक निकाई। जनु उड़गन मंडल बारिद पर नवग्रह रची अथाई।'* (वि० ६२) (ख) *'बिप्र चरन देखत मन लोभा'* इति। विप्रचरण आभूषणकी तरह शोभित है, इसीसे आभूषण-वर्णनके बीचमें विप्रचरणको भी वर्णन किया। [यह चिह्न भगवान्‌के वक्ष:स्थलकी कोमलता और हृदयकी क्षमाको प्रकट कर रहा है। ऐसा कोमल है कि उसपर भृगुजीके चरणका चिह्न आजतक विराजमान है। यथा—*'उर बिसाल भृगु चरन चारु अति सूचत कोमलताई।'* (वि० ६२) भगवान् क्षमाशील ऐसे हैं कि उलटे अपना ही अपराध मान लिया। भृगुजीने सबकी परीक्षा ली पर क्षमावान् एक आप ही ठहरे। भृगुचरण देखकर स्मरण हो आता है कि 'ऐसा क्षमावान् स्वामी दूसरा कौन है?' कोई भी तो नहीं, बस, यह स्मरण होते ही मन लुब्ध हो जाता है कि उपासना योग्य ये ही हैं। (पाण्डेजी) इसीसे *'देखत मन लोभा'* कहा।]

नोट—१ यहाँ भृगुलताका वर्णन है। मनु-शतरूपा-प्रकरणमें इसका वर्णन नहीं है। इसके विषयमें कुछ तो *'उर श्रीवत्स'*········।'(१४७। ६) में लिखा गया है। कुछ लोगोंके भाव यहाँ भी लिखे जाते हैं।—(१) पंजाबीजी लिखते हैं कि यह 'चरणचिह्न अवतारोंका लक्षण है।' (२) रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'व्यूह' 'विभु,' 'अर्चा' और 'अन्तर्यामी' समस्त रूप इसी रूपसे हैं। इसलिये उन रूपोंका चिह्न भी इस रूपमें रहता है।' (३) कोई लिखते हैं कि यहाँ अंशी और अंशमें अभेद दिखाया है। देवता आर्त हैं, जानते हैं कि विष्णुभगवान् भक्तोंके हितार्थ अवतार लिया करते हैं। अत: उनकी प्रतीतिके लिये प्रभु यह चिह्न आविर्भाव होनेपर ग्रहण कर लेते हैं।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'नवाहीके परमहंस श्री १०८ श्रीस्वामी रामशरणजी महाराज कहते थे कि श्रीगोस्वामीजीका मानस उनके और ग्रन्थोंसे निराला है, उसमें तीन ही जगह विप्रचरणकी चर्चा है। १-यहाँ, २-*'उर धरासुर पद लस्यो'* (लं० दो० ८६); ३—**विप्रपादाब्जचिह्नम्**' (उ० मं०)। तीनों जगह भृगुका नाम नहीं है। अत: यह विप्र-चरण श्रीवसिष्ठजीका चरण-चिह्न है। गी० बा० १२वें पदके अनुसार झड़वानेके पीछे कौसल्याजीने प्रार्थना की कि बच्चेके वक्ष:स्थलपर आप अपना चरण रख दें जिससे यह कभी डरे एवं चौंके नहीं। गुरुजीने वैसा ही किया, वह चिह्न है। श्रीपरमहंसजी श्रीरामजीकी रूपनिष्ठाकी अनन्यतामें प्रसिद्ध थे।'

इसमें संदेह नहीं कि परमहंसजी महाराज परम अनन्य निष्ठावाले थे। इसीसे उन्होंने 'विप्र' से वसिष्ठजीका अर्थ लिया है। परंतु गीतावलीका जो प्रमाण दिया गया है उसमें स्पष्ट शब्द ये हैं—*'बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमीके। सुनत आइ रिषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़ जो सुमिरत भय भी के। जासु नाम सर्बस सदासिव पार्वती के। ताहि झरावति कौसिला, यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के। माथे हाथ रिषि जब दियो राम किलकन लागे।'········'निरखि मातु हरषी हिये आली ओट कहति मृदु बचन प्रेम के से पागे॥ तुम्ह सुरतरु रघुबंसके, देत अभिमत माँगे। मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे॥ अमिय बिलोकनि करि कृपा मुनिबर जब जोए। तब तें राम अरु भरत लषन रिपुदवन सुमुख सखि! सकल सुवन सुख सोए।'* इससे वक्ष:स्थलपर चरण रखनेकी प्रार्थना और चरणका रखना केवल कल्पना सिद्ध होती है। फिर यदि चरण रखा होता तो चारों भाइयोंके यह चिह्न होता।

अन्य कतिपय महात्माओंका मत है कि जिन वसिष्ठजीसे हाथ जोड़कर कविने श्रीरामजीकी प्रार्थना मानसमें करायी है; यथा—*'राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी॥'* (७। ४८) उनसे वक्ष:स्थलपर चरण कभी न रखवायेंगे। यदि नरनाट्यके अनुसार चरणका स्पर्श हुआ भी हो तो स्पर्शमात्रसे चिह्न बन जाना असम्भव जान पड़ता है। भृगुजीने तो बलपूर्वक आघात किया था, अतः उससे चिह्न हो जाना उपयुक्त ही है।

नोट—२ *'बिप्र चरन'* इति। 'भृगुचरण' के सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ० ८९ में यह कथा है कि एक समय जब सरस्वती नदीके तटपर ऋषिगण एकत्र हो यज्ञ कर रहे थे तब वहीं यह तर्क उपस्थित हुआ कि 'त्रिदेवमेंसे कौन श्रेष्ठ है?' जब वे आपसमें निर्णय न कर सके तब समाजने ब्रह्माके पुत्र महर्षि भृगुको इस विषयकी परीक्षा करनेके लिये भेजा। वे प्रथम ब्रह्मलोक ब्रह्माकी सभामें गये और उनके सत्त्वकी परीक्षाके लिये उनको दण्डप्रणाम-स्तुति न की। पुत्रकी इस धृष्टतापर ब्रह्माजी अत्यन्त कुपित हुए। तब मुनि कैलाशको गये। श्रीशिवजी भाईसे मिलनेको आनन्दपूर्वक उठे, परन्तु उन्होंने यह कहकर कि 'तुम कुमार्गगामी हो, मैं तुमसे नहीं मिलना चाहता' उनका तिरस्कार किया। इसपर शिवजीने अत्यन्त कुपित हो उनपर त्रिशूल उठाया, परन्तु जगदम्बा श्रीपार्वतीजीने उनको शान्त कर दिया। वहाँसे चलकर ऋषि वैकुण्ठ पहुँचे जहाँ देव जनार्दन श्रीजीकी गोदमें लेटे थे। भगवान्‌को लक्ष्मीकी गोदमें सिर रखे हुए शयन करते देख भृगुजीने उनकी छातीमें एक लात मारी। भगवान् तुरत लक्ष्मीसहित पर्यङ्कपरसे उतर मुनिको प्रणामकर कोमल मीठी वाणीसे बोले—'ब्रह्मन्! आपको आनेमें कोई कष्ट तो नहीं हुआ? पर्यङ्कपर विराजिये, विश्राम कर लीजिये। प्रभो! मैंने आपका आगमन न जाना, मेरे अपराधको क्षमा कीजिये। भगवन्! आपके कोमल चरणोंमें मेरे कठोर वक्ष:स्थलसे चोट लग गयी होगी (कहनेके साथ ही उनके चरणको सोहराने लगे)—तीर्थोंको भी पावन करनेवाले अपने चरणामृतसे हमें पवित्र कीजिये। मेरे लोकके सहित मुझे तथा मुझमें स्थित लोकपालोंको पवित्र कीजिये।—'**पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्। पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा॥**'(११) यह आपका चरण-चिह्न शोभाका एकमात्र आश्रय है, इसे मैं सदैव आभूषणवत् धारण किये रहूँगा। भृगुजी अवाक् रह गये। उनका हृदय भर आया और नेत्रोंसे प्रेमानन्दाश्रु बहने लगे। लौटकर भृगुजीने सब वृत्तान्त और अपना अनुभव ऋषिसमाजको सुनाया। इस प्रकार सिद्धान्त स्थित करके सब उन्हीं सत्यमूर्तिका भजन करने लगे।

कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई॥७॥

दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे॥८॥

शब्दार्थ—**पारे**=पार पा सके। समर्थ हो सके। वा, पारना=सकना, यथा—*'प्रभु सनमुख कछु कहइ न पारैं', 'सोक बिकल कछु कहै न पारा'* एवं *'बाली रिपुबल सहै न पारा'*।

अर्थ—कण्ठ शङ्खके समान (त्रिरेखायुक्त) और ठोढ़ी बहुत ही सुहावनी है। मुखपर असंख्यों कामदेवोंकी छबि छा रही है॥ ७॥ दो-दो दाँत (ऊपर-नीचे) हैं, लाल-लाल ओंठ हैं। नासिका और तिलकका वर्णन कौन कर सकता है? (कोई भी नहीं)॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'कंबु कंठ'* । शङ्खसमान कहकर जनाया कि त्रिरेखायुक्त है और मानो त्रैलोक्यसुषमाकी सीमा है। यथा—*'रेखें रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुखमा की सीवाँ॥'* (२४३। ८) तीनों लोकोंकी शोभा कण्ठमें है। नीचेकी रेखामें पातालकी, मध्यरेखामें मर्त्यलोककी और ऊपरकी रेखामें स्वर्गलोककी शोभा है। विशेष (१४७। १) में देखिये। [त्रिरेखायुक्त होनेके और भाव ये कहे जाते हैं—(१) त्रिपाद्विभूतिके ये ही स्वामी हैं। (रा० प्र०) (२) तीनों लोकोंके कर्ता हरि इन्हींके गले पड़े हैं। (रा० प्र०) (३) मानो तीनों लोकोंकी शोभा वा त्रिपाद्विभूति है। (वै०) पंजाबीजीकी टीकामें *'कंबु'* का भाव त्रिरेखायुत और 'सतखण्ड' लिखा है।]

(ख) *'कंबु कंठ'* अर्थात् कण्ठ त्रिभुवनकी शोभाकी सीमा है, यह कहकर *'अति चिबुक सुहाई'* और *'आनन अमित मदन छबि छाई'* कहनेका भाव कि कण्ठ त्रिभुवन शोभाकी अवधि है और चिबुक इसके ऊपर है (अतः इसकी शोभा अधिक है, यह अत्यन्त शोभित है) और मुख इसके भी ऊपर है (अर्थात् ऊपर होनेसे चिबुकसे भी अधिक शोभा इसकी है। इसीसे इसकी शोभाके विषयमें *'अमित मदन छबि छाई'* कहा। (उत्तरोत्तर अधिक शोभा दिखायी)। (ग) *'आनन अमित.........'* इति। शरीरमें कोटि कामकी छबि कही,—*'काम कोटि छबि स्याम सरीरा'*, और मुखमें अमित कामदेवोंकी छबि कहते हैं। वहाँ *'कोटि'* और यहाँ *'अमित'* शब्द देकर जनाया कि समस्त शरीरकी छबिसे मुखकी शोभा अधिक है, यथा—*'राम देखि मुनि देह बिसारी। भए मगन देखत मुख सोभा।'* (२०७। ४-५) समस्त शरीर देखकर विश्वामित्रका वैराग्य भूल गया और मुखकी शोभा देख वे अपनी सुधि ही भूल गये (शोभासमुद्रमें डूब ही गये। पं० रामकुमारजीके खर्रेमें *'देह'* शब्द छूट गया है। सम्भवतः *'बिरति बिसारी'* पाठसे उपर्युक्त भाव कहा गया है)।

नोट—१ जान पड़ता है कि प्रथम समष्टि छबि कहकर जब नखशिख वर्णन करने लगे तब चरणोंसे ध्यानका वर्णन करते हुए ऊपरकी ओर आये। जब मुखारविन्दपर दृष्टि पड़ी तब सोचे कि इसके सामने तो अनन्त कामदेवोंकी शोभा भी धूलिके बराबर है; अतएव यहाँ अमित विशेषण दिया। (प्र० सं०)

नोट—२ श्रीनंगे परमहंसजी *'आनन'* का अर्थ *'आँख'* करते हैं और उसकी पुष्टिमें कहते हैं कि 'यदि आननका अर्थ मुँह किया जाय तो अनर्थ हो जायगा क्योंकि नेत्रके लिये दूसरा कोई शब्द ही नहीं है कि जिसका अर्थ नेत्र किया जाय। और नेत्र मुँहका प्रधान अंग है।.........नेत्रके बिना मुँहकी शोभा हो ही नहीं सकती......और यहाँ शोभाका प्रसंग है। अतः आननका अर्थ आँख होगा। यदि कहिये कि ग्रन्थकारने मुँह नहीं लिखा, आठों अंग लिखे हैं तो चिबुक, नेत्र, दाँत, ओष्ठ, नाक, ललाट, कपोल और कान यही आठ अंग मुँह कहलाता है, मुँह कोई दूसरी चीज नहीं है।......*'नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना॥'* में *'बदन'* का अर्थ आँख ही होगा, क्योंकि प्रसंग नींदका है।......मुखके लिये लाल कमलकी उपमा नहीं दी जाती।' *'कंध बाल केहरि दर ग्रीवा। चारु चिबुक आनन छबि सींवा॥ नील कंज लोचन भव मोचन।'* में आनन और नेत्र दोनों कहे गये हैं, इसलिये वहाँ आननका अर्थ मुँह किया जायगा। पर जहाँ आनन एक ही शब्द लिखा गया है और नेत्रोंके लिये दूसरा शब्द नहीं है वहाँ आननका अर्थ आँख ही होगा।' [*'आनन'* का अर्थ 'नेत्र' प्रचलित कोशोंमें कहीं सुना नहीं जाता। यदि कविको नेत्र कहना था तो वे *'आनन'* की जगह 'नयनन' और *'बदन'* की जगह 'नयन' लिख सकते थे। यदि यह अर्थ कहीं मिलता तो भी प्रसंगके अनुकूल यहाँ यह अर्थ है या नहीं इसपर विचार किया जाता।]

श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि नेत्रका वर्णन यहाँ जान-बूझकर कविने नहीं किया, क्योंकि 'आज सूर्यावलोकनोत्सव है। शिशु राम अभी सूर्यके सामने नेत्र नहीं खोल सकते। इससे नेत्र बंद हैं। नेत्र खुले होते तो उनकी शोभाका वर्णन किया जाता।' उत्तरकाण्डमें भुशुण्डिजीसे क्रीड़ा करते समयका ध्यान है, वहाँ नेत्र खुले हैं, इससे वहाँ नेत्रोंका भी वर्णन है। जैसे उत्तरकाण्डमें क्रमसे *'दर ग्रीवा'*; *'चारु चिबुक'* और *'आनन छबि'* शब्द आये हैं वैसे ही यहाँ भी *'कंबु कंठ'*, *'चिबुक सुहाई'* और *'आनन......छबि'* पद हैं। इस तरह दोनों जगह एक ही अर्थ माना जायगा। इसी तरह किशोरावस्थाके ध्यानमें भी मुख और नेत्र दोनोंका वर्णन है। यथा—*'सरद मयंक बदन छबि सींवा।.........नव अंबुज अंबक छबि नीकी॥'* (१४७। १—३)

प्र० स्वामीका मत है कि नेत्रोंका वर्णन यहाँ भी है। *'बिप्रचरन देखत'* में वे *'देखत'* क्रियासे बालक रामजीका देखना अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'बालक रामजी अब बैठने लगे हैं और बैठे हुए विप्रचरण देखते हैं। उनका मन विप्रचरण देखनेमें लुब्ध हो गया है। बैठे हैं इसका प्रमाण यह है कि कविने चरणोंसे हृदयतक यथाक्रम वर्णन किया, इसके बाद कण्ठका वर्णन चाहिये था, पर प्रभु इस समय मुख नीचे किये हुए भृगुचरणोंको देख रहे हैं जिससे कण्ठ दिखायी नहीं पड़ा, जब देखना बंद हुआ तब कण्ठ दीखने लगा और चिबुक भी। इस प्रकार उनका देखना कहकर नेत्रोंका वर्णन उसीमें जना दिया।

सूर्यावलोकन-विधि तीसरे महीनेमें विहित है, उस समय *'दुइ दुइ दसन'* नहीं होते। (*'देखत'* श्रीराममें लग सकता है या नहीं, पाठक स्वयं विचार करें)।

पं० रामकुमारजीने इसका समाधान दूसरी प्रकार किया है जो (१९९। १२) में दिया गया है।

टिप्पणी—२ (क) *'दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे'* इति। तात्पर्य कि अधरकी अरुणता दाँतोंमें आ गयी है, इससे दाँत कुछ लाल हैं। दो-दो दाँत कहकर जनाया कि छः मासके हो चुके, दाँत जम आये हैं। (ख) *'नासा तिलक को बरनै पारे'* इति। भगवान्‌की नासा अश्विनीकुमार हैं, यथा—*'जासु घ्रान अश्विनीकुमारा'।* अश्विनीकुमार सब देवताओंसे सुन्दर हैं। 'तिलक', यथा— *'तिलक रेख सोभा जनु चाकी'* (१४७। ४) देखिये।

नोट—३ *' नासा तिलक '* इति। श्रीत्रिपाठीका मत है कि 'आज मास तिलक नहीं है, बच्चोंकी नासा तिलक ही दिया जाता है। बालगोपालके उपासक आज भी नासा तिलक धारण करते हैं।

सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला*॥ ९॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥ १०॥
पीत झगुलिया तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥ ११॥

शब्दार्थ—**तोतरे** (तोतले)=रुक-रुककर टूटे-फूटे अस्पष्ट शब्द जो बच्चोंके मुखसे निकलते हैं। **चिक्कन**=चिकने। **कच**=बाल। **कुंचित**=घुँघराले। **गभुआरे**=गर्भवाले; जो जन्मसे ही रखे हुए हैं। **झगुलिया**=अँगरखी; छोटे बच्चोंके पहननेका ढीला कुरता। **जानु पानि**=बकैयाँ, बकैयाँ; दोनों हाथों और दोनों पैरोंको पृथ्वीपर टेककर बच्चे चलते हैं वह चाल।=हाथ और घुटनेके बल। वा, 'जाँघपर हाथ धरकर'—(स्नेहलताजी)।

अर्थ—सुन्दर कान हैं, अत्यन्त सुन्दर गाल हैं, सुन्दर तोतले वचन बड़े ही मधुर और बड़े ही प्रिय लगते हैं॥ ९॥ जन्मके समयसे ही रखे हुए चिकने और घुँघराले बाल हैं। माताने बहुत प्रकारसे रचकर उनको सँवार दिया है॥ १०॥ पीली अँगरखी देहपर पहिनायी है। घुटनों और हाथोंके बल चलना मुझे बहुत ही प्यारा लगता है॥ ११॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुंदर श्रवन सुचारु कपोला'* इति। अभी कर्णवेध-संस्कार नहीं हुआ है, इसीसे कानोंका भूषण नहीं वर्णन किया गया। विशेष (१४७ १। ५) में देखिये। (ख) *'अति प्रिय मधुर.......'* इति। भाव कि *'तोतरे बोल'* तो सभी बालकोंके प्रिय और मधुर होते हैं पर श्रीरामजीके तोतले वचन अति प्रिय और अति मधुर हैं। अति मधुर हैं, इसीसे अतिप्रिय हैं। (ग) मुखकी शोभा ऊपर कह चुके—*'आनन अमित.......।'* अब यहाँ मुखके बोलकी शोभा कहते हैं।

टिप्पणी—२ *'बहु प्रकार रचि मातु सँवारे'*— भाव कि केश एक तो अपने स्वरूपसे सुन्दर हैं, अच्छे हैं, चिकने हैं, घुँघराले हैं, काले हैं, उसपर भी माताने बहुत प्रकारसे रचकर उन्हें सँवारा है। अतर-फुलेल लगाकर ऐंछा है, इससे चिक्कन हैं और सँवारा है इससे कुञ्चित हैं।

टिप्पणी—३ (क) *'पीत झगुलिया तनु पहिराई'* से पाया जाता है कि गर्मीके दिन हैं। चैत्रमें जन्म हुआ।

---

* इसके बाद 'नीलकमल दोउ नयन बिसाला। बिकट भृकुटि लटकनि बर माला॥'

यह अर्द्धाली पाण्डेजी, पंजाबीजी, शुकदेवलालजी (जिन्होंने मूल मानस रामचरितकी भी न जाने कितनी चौपाइयाँ रामायणमेंसे काट-छाँट डाली हैं) और विनायकी टीकाकारने भी दी है। परंतु काशिराज, श्रावण-कुञ्ज, छक्कनलालजी इत्यादिवाली प्राचीन प्रतियोंमें यह अर्द्धाली कहीं नहीं पायी जाती। नागरी-प्रचारिणी सभा एवं श्रीरामदासजी गौड़ और पं० शिवलाल पाठक भी इसे क्षेपक ही मानते हैं। रामायणी सन्तोंका भी यही मत है। श्रीयुत जानकीशरणजी (स्नेहलताजी) कहते हैं कि इस प्रसंगमें नेत्रका वर्णन नहीं है। यह चौपाई लोगोंने और ठौर इसका वर्णन होनेके कारण यहाँ भी मिला दी है। वस्तुतः यह सूर्यावलोकनका समय है। अभी श्रीराम-शिशु तीन महीनेके हैं। तीन मासका बच्चा सूर्यके सामने नेत्र कैसे खोल सके? अतएव नेत्र खुले नहीं हैं न उनका यहाँ वर्णन है। यहाँ केवल सूर्यावलोकनसमयका ध्यान वर्णन किया गया है। वे० भू० पं० रा० कु० दास यहाँ लेखकका प्रमाद मानते हैं और कहते हैं कि भूलसे छूट गयी है।

भादों, कुआर छठा महीना है। छठे महीने बालक बकैयाँ (घुटनों और हाथोंके बल) चलता है। *'तनु पहिराई'* का भाव कि श्याम तनु पाकर पीत झँगुलीकी शोभा हुई है, यथा—*'पीत झीनि झगुली तनु सोही।'* (७। ७७) (ख) *'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई'* इति। भाव कि जो जानु-पाणिसे मुझको पकड़नेको दौड़ते थे, यथा—*'जानु पानि धाए मोहि धरना।'* (७। ७९) वह शोभा मेरे हृदयमें बस गयी है, मुझे भाती है, पर कहते नहीं बनती। (परंतु आगेके *'तिन्हकी यह गति प्रगट भवानी।'* (२००। २) यह शिवजीका कथन सिद्ध होता है)। पुनः भाव कि जानु-पाणिसे विचरनेमें चरण उलट जाते हैं, तलवोंके अड़तालीसों चिह्नोंका दर्शन होता है और हाथोंको पृथ्वी कमलके फूलोंका आसन देती है। [(ग) ☞ इस अर्धालीमें सूक्ष्म रीतिसे *'भूमि-उपवेशन'* उत्सव जनाया है। भाद्रपद कृ० १३ को पुष्य नक्षत्रमें प्रथम-प्रथम आँगनमें शिशुको भूमिपर बिठलानेकी रस्म बरती गयी। उसीका ध्यान यहाँ वर्णन किया है।] सर्वाङ्ग शृङ्गारसहित जरतार रेशमी पीत झँगुली तनमें पहनाकर माताओंने बच्चोंको भूमिपर बैठाया है (वै०)। (घ) *'मोहि भाई'* कहकर जनाया कि जानुपाणि-विचरण देखकर चञ्चल मन स्थिर हो जाता है (रा० प्र०)। (ङ) मिलानका श्लोक—'**जानुभ्यां सहपाणिभ्यां प्राङ्गणे विचचार ह। क्वचिच्च वेगतो याति क्वचिद्याति शनैः शनैः॥**' (सत्योपाख्याने अ० २५। ६)]

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानै सपनेहु जेहि देखा॥१२॥

दो०—सुख संदोह मोहपर ग्यान गिरा गोतीत।
दंपति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत॥१९९॥

अर्थ—रूपका वर्णन तो वेद और शेष भी नहीं कर सकते। वही जाने जिसने स्वप्नमें भी देखा हो॥ १२॥ सुखके समूह अर्थात् आनन्दघन, मोहसे परे, ज्ञान, वाणी और इन्द्रियोंसे परे (जो श्रीराम ब्रह्म हैं वही) दम्पति (राजा-रानी) के परम प्रेमके वश पवित्र बाल-चरित्र कर रहे हैं॥ १९९॥

टिप्पणी—१ (क) *'रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा'* इति। भाव कि जितनी शोभा हमने कही, उतनी ही नहीं है, वरंच बहुत है, उसे शेष और श्रुति भी नहीं कह सकते। (ख) ☞ भगवान्‌का नखशिख वर्णन किया गया; सब अङ्गोंका वर्णन किया पर नेत्रोंका वर्णन नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि भुशुण्डिजीने रूपको साक्षात् देखकर (उत्तरकाण्डमें) गरुड़जीसे वर्णन किया। उसी रूपको गुरुमुखसे सुनकर हमने वर्णन किया। पर भुशुण्डिजीने रूपको देखकर उसका वर्णन किया, इसीसे वहाँ नेत्रका वर्णन है, हमने बिना देखे वर्णन किया, इसीसे हमारे यहाँ नेत्रका वर्णन नहीं है अथवा, श्रीरामजीका ऐसा अद्भुत रूप है कि श्रुति-शेष भी ठीक-ठीक नहीं कह सकते, वर्णन करनेमें सबसे कुछ-न-कुछ बाकी ही रह जाता है। भुशुण्डिजीसे भी भृगुचरणचिह्न कहनेमें रह गया। वैसे ही यहाँ नेत्रका वर्णन रह गया (विशेष १९९। ७-८ में देखिये)।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि *'रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा'* कहकर *'सो जानै सपनेहु जेहि देखा'* कहनेमें भाव यह है कि रूप यद्यपि सर्वथा अवर्णनीय है फिर भी अज्ञेय नहीं है, सपनेमें भी जिसने देखा है वह इस बातको जानता है कि वह महासौन्दर्य सर्वथा वाणीसे परे है। श्रीगोस्वामीजीने स्वप्नमें इस प्रकार दर्शन किया था, इसलिये ऐसा कहते हैं। यहाँ गोस्वामीजीने नेत्रका वर्णन नहीं किया; क्योंकि याद नहीं है। 'स्वप्नकी बात पूरी-पूरी याद नहीं रहती, एकाध बातकी भूल पड़ जाया करती है।'

प० प० प्र०—शिवजी कहते हैं*'सो जानै सपनेहु जेहि देखा।'* इससे अनुमान होता है कि शिवजीने यह लीला देखी है। कब और कैसे देखी इसका संकेत भुशुण्डिजीकी मोहकथामें है जो *'जानु पानि धाए मोहि धरना॥'* (७। ७९। ६) से शुरू हुई। मोहनिवृत्तिके पश्चात् भुशुण्डीजीने कहा है कि *'लगे करन सिसु कौतुक तेई॥'* (७। ८८। ५) *'तेई'* से *'जानु पानि धाए मोहि धरना'* इत्यादिको ही सूचित किया है। इसके अनन्तर सोरठेमें कहा है—*'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥'* (८८) अर्थात् उस सुखके लिये शिवजीको अशिव वेष लेना पड़ा। भुशुण्डिजीने इस सुखके लिये 'लघु वायस वेष' लिया। काक-देह अमङ्गल है। इससे सिद्ध हुआ कि भुशुण्डिजीके

साथ शिवजी भी लघु वायस वेषमें *'जानु पानि बिचरनि'* देखते थे; अतः कहा कि *'मोहि भाई'।* जब शिवजी विप्रवेषमें आये तब भुशुण्डिजी भी विप्रवेषमें आये थे और जब भुशुण्डिजी लघुवायसरूपसे शिशु-चरित देखते तब शिवजी भी उनके साथ लघुवायसरूपमें ही रहे, पर शिवजीको मोह नहीं हुआ।

टिप्पणी—२ *'सुख संदोह मोहपर'* इति। (क) सुखके पात्र हैं, मोहसे परे हैं; यथा— *'नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा॥'* (११६। ५) इतने विशेषण देकर तब *'दंपति परम प्रेम बस'''* कहनेमें भाव यह है कि जो ब्रह्म इतना अगम्य है, वही प्रेमके वश होकर इतना सुगम हो गया कि शिशु बनकर चरित कर रहा है। श्रीमनु-शतरूपाके प्रेमवश उनके बालक हुए और उनको वात्सल्यसुख देनेके लिये शिशुचरित करते हैं। (ख) *'पुनीत'* अर्थात् ऐसे पवित्र हैं कि अधमाधम प्राणी भी इन्हें सुननेसे ही पवित्र हो जाते हैं। (ग) ☞जबतक माता-पिताकी गोदमें रहे तबतक माता-पिताको ही विशेष सुख रहा। जब गोदसे उतरकर आँगनमें खेलने लगे तब माता-पिता (दोनों) को सुख होने लगा, इसीसे यहाँ *'दंपति प्रेम बस'* कहा और पूर्व केवल *'कौसल्याके गोद'* कहा था। जानु-पानि-विचरण होने लगा तब पिता भी गोदमें लेने लगे। और आगे बाहर निकलनेपर सभी कोसलपुरवासियोंका सुख लिखते हैं; *'एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता॥'*—*'सुख संदोह'* हैं, अतः सबको सुख देते हैं।

खर्रा—१ इस दोहेमें भगवान्के सब अंगोंका वर्णन है, नेत्रोंका वर्णन नहीं है और देखनेवालोंका तीन बार वर्णन है। यथा—*'बिप्र चरन देखत मन लोभा', 'नाभि गँभीर जान जिहिं देखा', 'सो जानै सपनेहु जेहि देखा'।* २—यहाँ नाम, रूप, लीला और धाम क्रमसे कहे गये। प्रथम नामकरणसे नाम कहा, *'काम कोटि छबि स्याम सरीरा'* से लेकर *'सो जानै सपनेहु जेहि देखा'* तक १२ अर्धालियोंमें रूपका वर्णन हुआ, *'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई'* और *'कर सिसु चरित पुनीत'* इत्यादि लीला है। और, आगे *'कोसलपुर बासिन्ह'''* से धाम कहा। ३—बाललीलाप्रकरणमें तीन दोहे एक ही प्रकारके हैं।—*'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥', 'सुख संदोह मोह पर ग्यान गिरा गोतीत। दंपति परम प्रेमबस कर सिसु चरित पुनीत॥'* और *'ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगति हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥'* (२०५) तीनोंमें ऐश्वर्य वर्णित है। प्रथममें कौसल्याजीका, दूसरेमें दंपतिका और तीसरेमें पुरवासियोंका भी प्रेम क्रमसे पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। ४—*'एहि बिधि राम जगत पितु माता'* के आगे ५ अर्धालियोंमें उपदेश है।

प० प० प्र०—इस दोहेके अंगभूत १२ चौपाइयाँ हैं। यही *'सतपंच चौपाईं मनोहर'* हैं जो *'उर धरने'* अर्थात् ध्यानके योग्य हैं। १२ चौपाई अन्यत्र नहीं है। इन चौपाइयोंमें सूर्यावलोकन, निष्क्रमण, भूम्युपवेशन और अन्नप्राशन आदि बारह मासोंमें करने योग्य सब विधियाँ शास्त्रानुकूल समयमें ही की गयीं यह अत्यन्त गूढ़ रीतिसे कहा है। मराठी 'गूढ़ार्थचन्द्रिका' में विस्तारसे लिखा है—

एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता॥ १॥
जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी॥ २॥

अर्थ—जगत्के माता-पिता श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार (अवधमें जन्म लेकर बाललीला करके) कोसलपुरवासियोंको सुख देनेवाले हुए॥ १॥ हे भवानी! श्रीरामजीके चरणोंमें जिन्होंने प्रेमपन ठाना, अनुराग किया (अर्थात् जो श्रीरामपद-प्रेमाभिमानी हैं) उन (उपासकों) की यह गति प्रकट है। (तात्पर्य कि आज इस कलिकालमें, वर्तमान कालमें भी जो रामचरणमें रतिमान हैं, रामचरणानुरक्त हैं उनको भी उस समयके कोसलपुरवासियोंकी भाँति वे सुख देते हैं)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'जगत पितु माता'* अर्थात् संसारके उत्पन्न-पालनकर्ता जो भगवान् हैं, एवं जो भगवान् माता-पिताके समान जगत्के सुखदाता हैं। जो राम सारे जगत्के माता-पिता हैं वे कोसलपुरवासियोंको सुखदाता हैं, इस कथनका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत्को जिसने उत्पन्न किया वह स्वयं ही अवधमें आकर पुरवासियोंको सुख देनेके लिये (पुत्ररूपसे) उत्पन्न हुआ। एवं जो जगत्-सुखदाता है वह एक

पुरको सुख दे रहा है, यह कैसी विचित्र बात है! पुनः भाव कि जब वह स्वयं ही इनको सुख देने आया और दे रहा है, तब उनके सुखका वर्णन कौन कर सकता है? (ख) *'कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता'* का भाव कि कोसलपुरमें निवास होनेसे उनपर बड़ा ममत्व है; यथा—*'अतिप्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥'* [(ग) *'एहि बिधि राम जगत पितु माता'* यह चरण सूत्ररूप है। *'जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह'* तीन नाम इसमें दिये। इन तीनोंको सुख दिया। प्रथम माताको, फिर माता-पिता दोनोंको, फिर कोसलपुरवासी एवं जगत्‌को—(स्नेहलताजी)]।

टिप्पणी—२ (क) *'जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी'* इति। प्रथम अर्धालीमें केवल कोसलपुरवासियोंको सुख देना कहा, इसीसे अब *'जिन्ह रति मानी'* कहकर जगत्‌भरके उपासकोंको सुख देना कहते हैं। (ख) यहाँ गोस्वामीजीने ऐश्वर्यसूचक नाम न देकर 'रघुपति', 'रघुराई' इत्यादि माधुर्य नाम दिये हैं। इसमें भाव यह है कि प्रभुके सगुण रूपमें, उनके अवतारमें जिनका प्रेम है, उन्हींको ये सुख मिल सकते हैं, दूसरोंको नहीं। (ग) *'तिन्ह की यह गति प्रगट'* का भाव कि बात पुष्ट करनेके लिये वेदशास्त्रादिका प्रमाण दिया जाता है सो यहाँ प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। उपासकोंकी गति प्रकट है, आँखसे देख लो, प्रमाणका काम नहीं। [(घ) पुनः, भाव यह कि पूर्वकालमें श्रीमनु-शतरूपाजीने अनन्य प्रेमपन निबाहा इसीसे आज प्रभु उनको प्रत्यक्ष बालचरितका आनन्द (रूप फल) दे रहे हैं। इसी तरह जो कोई भी प्रभुसे अनन्य प्रेम करेगा उसकी भी गति अवधवासियोंकी-सी होगी, उनको भी प्रभु ऐसा ही मनोवाञ्छित सुख देंगे (प्र० सं०)। अवधवासियोंका प्रेम वियोगके समय प्रत्यक्ष देखा गया है। प्रभु तो उनके प्रेमको प्रथमसे ही जानते हैं, इसीसे उनको सुख दिया है।

रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भव बंधन छोरी॥ ३॥
जीव चराचर बस कै* राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥ ४॥

शब्दार्थ—**बिमुख**=जिसको प्रेम न हो, जो मन न लगाये, प्रतिकूल। **कोरी**=कोरियों, बीसों, करोड़ों। =खाली-खाली, व्यर्थ। **भाखे**=बोलती है, सम्भाषण करती है। **भय भाखे**=भयपूर्वक सम्भाषण करती है। बोलते डरती है। भय खाती है।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीसे विमुख (रहकर मनुष्य चाहे) कोरियों (वा, व्यर्थ कितने ही) उपाय (क्यों न) करें, उनका संसार-बंधन कौन छुड़ा सकता है?॥ ३॥ जिस मायाने चर-अचर सभी जीवोंको अपने वशमें कर रखा है, वह भी प्रभुसे भय खाती है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'रघुपति बिमुख जतन कर कोरी।'''* इति। (क) उपासकोंकी गति ऊपर कही। अब जो उपासनाका निरादर करते हैं, जो रामविमुख हैं, उनकी गति कहते हैं। *'जतन कर कोरी'* का भाव कि यज्ञ, ज्ञान, तप, जप आदि करोड़ों यत्नोंसे भी भव-बन्धन नहीं छूट सकता; यथा—*'जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुरलभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'* (७। १३) तात्पर्य कि ज्ञानादि करोड़ों यत्नोंसे श्रीरामभक्ति श्रेष्ठ है। (ख) *'कवन सकै भव बंधन छोरी'*, रघुपतिविमुखका भवबन्धन कौन छोड़ सकता है, इस कथनका तात्पर्य यह है कि रघुपतिकी भक्ति यदि करे तो भक्ति भवबन्धनको छुड़ा देती है; यथा—*'देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही॥'* (२०२। ४) (ग) [☞ प्रमाण यथा—*'जप जोग बिराग महामख साधन दान दया दम कोटि करै। मुनि सिद्ध सुरेस गनेस महेस से सेवत जन्म अनेक मरै। निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै तपसानलमें जुगपुंज जरै॥ मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै॥'* (क० ७। ५५) पुनश्च, यथा—'**विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते। यूयं धन्या महाभागा येषां प्रीतिस्तु राघवे॥**' (सत्योपाख्याने)। पुनश्च, '**ये नराधमा लोकेषु रामभक्तिपराङ्मुखाः। जपं तपो दया शौचं शास्त्राणामवगाहनम्। सर्वं वृथा विना येन शृणु त्वं पार्वति प्रिये॥**' (रुद्रयामले। वै०)।

---

* 'करि'—पाठान्तर।

अर्थात् बिना भक्तिके मुक्ति नहीं होती यह हम हाथ उठाकर कहते हैं, जिनकी प्रीति श्रीरघुनाथजीमें है वे आप लोग धन्य हैं। हे प्रिये पार्वती! सुनो! जो अधम मनुष्य श्रीरामभक्तिसे विमुख हैं उनके जप, तप, दान आदि सब व्यर्थ हैं।]

नोट—श्रीभुशुण्डिजीने जो ***'बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥'*** (७। १२२) कहा है वही भाव यहाँके ***'रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भवबंधन छोरी॥'*** का है। वहाँ ***'कमठ पीठ जामहिं बरु बारा', 'बंध्यासुत बरु काहुहि मारा', 'फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला,' 'तृषा जाइ बरु मृगजल पाना', बरु जामहिं सस सीस बिषाना', 'अंधकारु बरु रबिहि नसावै', हिम ते अनल प्रगट बरु होई', 'बारि मथें घृत होइ बरु'*** और, ***'सिकता तें बरु तेल'*** इन नौ असम्भव दृष्टान्तोंको देते हुए उनके आदि, मध्य और अन्तमें यही सिद्धान्त अटल बताया गया है। श्रुति-पुराण आदि सब ग्रन्थोंकी साक्षी दी गयी है। उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार तीनोंमें यही सिद्धान्त किया गया है।

टिप्पणी—२ (क) ***'जीव चराचर बस कै राखे।'''*** इति। अब भवबन्धनका स्वरूप कहते हैं। मायाने चराचरको वश कर रखा है। यही भवबन्धन है। ***'बस कै राखे',*** वश करके रखा है अर्थात् भवबन्धन नहीं छोड़ने देती। (ख) ***'सो माया प्रभु सों भय भाखे',*** यही माया प्रभुके सामने ढीठ होकर नहीं बोल सकती, डरती रहती है। भाव कि वह प्रभुके अधीन है, प्रभुकी इच्छाके विरुद्ध कुछ भी करनेका साहस वह नहीं कर सकती। इससे जनाया कि जिनसे वह डरती है, उन्हीं प्रभुकी शरण हो जानेसे मायासे छुटकारा मिल जाता है; यथा—'**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥**' (गीता ७। १४) [(ग) यहाँ दो असम्भव वाक्योंकी समताका भावसूचक 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है। (वीर)]

भृकुटि बिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही॥५॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥६॥

अर्थ—प्रभु (श्रीरामचन्द्रजी) उस मायाको अपनी भौंहके इशारेपर नचाते हैं। ऐसे प्रभुको छोड़कर भला कहिये तो सही कि किसका भजन किया जाय? (अर्थात् और कोई भी भजने योग्य नहीं है; सभी तो मायाके वशीभूत हैं)॥ ५॥ मन, कर्म और बचनसे चतुराई (चालाकी, छल, कपट) छोड़कर भजन करते ही श्रीरघुनाथजी कृपा करेंगे॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'भृकुटि बिलास नचावै ताही'*** इति। यथा—***'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सो प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'*** (७। ७२) अर्थात् जो माया चराचरमात्रको नचाती है वही प्रभुके भ्रूविलासपर नाचती है। 'नचावै' पदसे पाया जाता है कि श्रीरामजीके सामने माया मूर्तिमान् खड़ी रहती है, यथा—***'देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥'*** (२०२। ३) प्रथम कहा कि ***'सो माया प्रभु सों भय भाखे'*** अर्थात् माया प्रभुसे डरते हुए (बड़े अदबसे) बोलती है और यहाँ ***'भृकुटि बिलास नचावै ताही'*** से जनाया कि वह बोलती है पर प्रभु उससे नहीं बोलते, भौंहके इशारेहीसे उसे नचाते हैं। पुनः 'नचावै' से जनाया कि माया नटी है; यथा—***'नाच नटी इव सहित समाजा।'*** (७। ७२) ***'माया खलु नर्तकी बिचारी।'*** (७। ११६)

नोट—१ ***'अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही'*** इति। ***'अस'*** अर्थात् जिससे माया डरती है और जिसके इशारेपर माया नाचती है, ऐसे समर्थ स्वामी। प्रभु=समर्थ स्वामी। ***'भजिय कहु काही'*** क्योंकि और सभी तो ***'माया बिबस बिचारे'*** हैं। भाव कि जो स्वयं मायावश है वह दूसरेको मायासे कैसे छुड़ा सकता है? जिससे माया डरती हो, जिसके वह अधीन हो, जो उसके स्वामी हों, वे ही उससे छुड़ा सकते हैं। श्रीरामजी ही एकमात्र ऐसे हैं, अतएव उन्हींका भजन करना चाहिये। उनकी भक्ति करनेसे माया डरती रहेगी। यथा—***'माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिबर्ग जानै सब कोऊ॥ पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥ भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥ रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई।'*** (७। ११६) एवं ***'हरिमायाकृत***

दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं।' रामभजन करनेसे वह अपना प्रभाव न डाल सकेगी।

टिप्पणी—२ (क) *'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई।…'* इति। प्रथम *'जीव चराचर बस कै राखे'* यह मायाका प्राबल्य कहा। फिर मायासे छूटनेका उपाय कहा—*'अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही'* अर्थात् प्रभु श्रीरामकी कृपा ही उपाय है। अब श्रीरामकृपाप्राप्तिका साधन बताते हैं कि भजन करे। *'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई भजत'* यह इस साधन (भजन) की सिद्धिका उपाय बताया। उदाहरण; यथा—*'मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा।'* (१८६) देवता चतुराई छोड़कर शरणमें गये, अतएव तुरंत आकाशवाणी हुई—*'गगन गिरा गंभीर भै हरन सोक संदेह।'* (१८६)

नोट—२ मन अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, यथा—*'नाम गरीबनिवाजको राजु देत जन जानि। तुलसी मन परिहरत नहिं घुरबिनिया की बानि॥'* (दोहावली १३) इसे सत्संगमें लगा देनेसे, इसपर प्रथम नियमका भार इतना डाल देनेसे कि उससे उसे छुट्टी ही न मिले (क्योंकि खाली बैठनेसे वह अवश्य विषयोंका चिन्तन करेगा), श्रीरामनाम और श्रीरामचरितका प्रभाव जानकर उनमें उसे लगा देनेसे, वह धीरे-धीरे विषयोंसे हटकर इधर लग जायगा तब प्रभु अवश्य कृपा विशेष करेंगे। देखिये, देवताओंके मन, वचन, कर्मसे शरण होनेपर ही ब्रह्मवाणी हुई थी।

नोट—३ *'छाड़ि चतुराई'* इति। चतुराई क्या है? चालाकी, छल, कपट ही चतुराई है। स्वार्थ छल है; यथा—*'छल स्वारथ फल चारि बिहाई।'* कपट प्रभुको नहीं भाता; यथा—*'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'* इसीसे श्रीभरतजी कहते हैं कि प्रभुके न आनेका कारण यही जान पड़ता है, यथा—*'कारन कवन नाथ नहिं आएउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसराएउ॥ …कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥'* (७। १) स्वार्थ और छल छोड़कर प्रभुहीसे नाता जोड़ना, उन्हींको उपाय और उपेय जानकर उन्हींका एकमात्र अपने सब कार्योंमें आशा-भरोसा रखना,—दम्भ-कपटसे नहीं वरंच शुद्ध अन्त:करणसे यही *'छाड़ि चतुराई'* का भाव है। यथा—*'जानकीजीवनकी बलि जैहौं। चित कहै रामसीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं। उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभुपद बिमुख न पैहौं। मन समेत या तनके बासिन्ह इहै सिखावनु दैहौं॥ श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं। रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईसही नैहौं॥ नातो नेह नाथ सों करि सब नाते नेह बहैहौं। यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥'* (विनय १०४) बस यही जीवन अपना बनाना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। गीतावलीमें प्रभुने भी यही लक्षण विभीषणजीसे कहे हैं जिससे वे अपनाते हैं; यथा—*'सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जाको कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं न तजौं तिहि यह जानत रिषिराउ॥ जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाउ।…नहि कोऊ प्रिय मोहिं दास सम कपट प्रीति बहि जाउ॥'* (५। ४५)

नोट—४ *'कृपा करिहहिं रघुराई'* का भाव कि उनकी कृपासे ही मायाकी निवृत्ति होगी; यथा—*'नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा॥'* (४। ३। २)

एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा॥ ७॥
लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥ ८॥

दोहा—प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान॥ २००॥

अर्थ—इस प्रकार प्रभु (जगत्-पितु-माता श्रीरामचन्द्रजी) ने बालक्रीड़ा की और समस्त पुरवासियोंको सुख दिया॥ ७॥ प्रेममें डूबी हुई माता कौसल्याजी उन्हें कभी (तो) गोदमें लेकर हिलाती-डुलाती और कभी पालनेमें लिटाकर झुलाती हैं॥ ८॥ (इस तरह प्रेममें डूबी हुई) रात-दिन जाते नहीं जानतीं। पुत्रके प्रेमवश माता उसके बालचरित गाया करती हैं॥ २००॥

टिप्पणी—१ (क) ''पूर्व कह आये कि *'एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुरबासिन्ह सुख*

दाता।' और यहाँ पुनः कहते हैं कि *'एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा॥'* यह पुनरुक्ति है'' यह शङ्का लोग करते हैं। पर यहाँ पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि पूर्वकी चौपाई *'एहि बिधि राम जगत पितु माता।'''* इत्यादि उपदेशके सम्बन्धमें है कि उनका ऐसा प्रेम है कि जो जगत्‌मात्रके माता-पिता हैं, उन्होंने इनको अपना माता-पिता बनाया और स्वयं पुत्र होकर उनको सुख दिया। और *'एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा'* इत्यादि कथाके सम्बन्धमें है। जैसे कि किष्किन्धाकाण्डमें *'बरषा-बिगत सरद रितु आई।'* और *'बरषागत निर्मल रितु आई।'* में एक ऋतुवर्णनके सम्बन्धमें कहा गया और दूसरा लीलावर्णनके सम्बन्धमें। (ख) शिशुविनोद गीतावलीमें स्पष्ट है कि कभी हाथ पसारते हैं कभी किलकारी मारते हैं कभी रिसा जाते हैं, इत्यादि। [यथा *'आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके। रहत न बैठे ठाढ़े पालने झुलावतहूँ, रोवत राम मेरो सो सोच सबही के॥ देव पितर ग्रह पूजिये तुला तौलिये घीके। तदपि कबहुँक सखि ऐसेहि आरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के॥ बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के। सुनत आइ रिषि कुस हरे नरसिंहमंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के॥ जासु नाम सरबस सदा सिव पारबती के। ताहि झरावति कौसिला यह रीति प्रीतिकी हिय हुलसत तुलसी के॥'* (गी० १२) *'माथे हाथ रिषि जब दियो राम किलकन लागे। महिमा समुझि लीला बिलोकि गुरु सजल नयन तनु पुलक रोम-रोम जागे॥ लिये गोद धाए गोद ते मोद मुनि-मन अनुरागे। निरखि मातु हरषी हिये आली ओट कहत मृदु बचन प्रेम के से पागे॥ तुम सुरतरु रघुबंसके देत अभिमत माँगे। मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे॥'* (गी० १२) *'गहि मनिखंभ डिंभ डगि डोलत। कलबल बचन तोतरे बोलत॥ ४॥ किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि॥'* (गी० २८) *'नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि।''परसपर खेलनि अजिर उठि चलनि गिरि-गिरि परनि॥ २॥ झुकनि झाँकनि छाँह सों किलकनि नटनि हठि लरनि। तोतरि बोलनि बिलोकनि मोहनी मनहरनि॥ ३॥ सखिबचन सुनि कौसिला लखि सुढर पाँसे ढरनि। लेत भरि भरि अंक सैंतति पैंत जनु दुहुँ करनि॥'* (गी० २५)]

टिप्पणी—२ *'लै उछंग कबहुँक हलरावै।'''* इति। यह कौसल्याजीके चित्तका उत्साह है, कभी गोदसे उतारकर नीचे बिठा देती हैं तब बकैयाँ चलने लगते हैं—*'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई।'* कभी गोदमें लेकर हिलाती-डुलाती हैं, कभी पालनेमें लिटाकर झुलाती हैं और बालचरित गान करती हैं। ☞ *'कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारै कहि प्रिय ललना॥'* (१९८। ८) पर कथाका प्रकरण छोड़कर बीचमें श्रीरामरूपका वर्णन करने लगे थे, फिर भक्ति और मायाकी महिमा कही। अब पुनः कथाका प्रसङ्ग वहींसे उठाते हैं—*'लै''उछंग''।'* [उछंग (सं० उत्संग)=गोद, कौरा। उछंग लेना=गोदमें लेना; हृदयसे लगाना।]

टिप्पणी—३ *'प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन'''* इति। (क) प्रथम लिख आये कि *'सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद'* अर्थात् कौसल्याजीके प्रेम और भक्तिके वश होकर ब्रह्म कौसल्याजीकी गोदमें आया। और अब यहाँ कौसल्याजीका प्रेम वर्णन करते हैं। (ख) *'निसि दिन जात न जान'* अर्थात् दिन-रात इतने सुखसे बीते कि पता ही न चला। सुखके दिन जाते जान नहीं पड़ते। *'निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं', 'पुरजन नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिं पलक सम बीती॥'* (अ० २५२) *'सुख समेत संबत दुइ साता। पलसम होहिं न जनिअहिं जाता॥'* (अ० २८०) (ग) *'सुत सनेह बस'* यहाँ कहकर दिखाया कि जैसे उधर भगवान् कौसल्याजीके प्रेमके वश हुए वैसे ही कौसल्याजी भी पुत्रके स्नेहके वश हैं। इस प्रकार माता और पुत्रका अन्योन्य प्रेम दिखाया। सुत-स्नेह-वश हैं, इसीसे सुतका चरित्र गाती हैं। [बालचरितका गान गीतावलीमें स्पष्ट है। यहाँ दो-एक पद उद्धृत किये जाते हैं। यथा—(१) *'सुभग सेज सोभित कौसल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये।''बालकेलि गावति हलरावति पुलकति प्रेम-पियूष पिये॥'* (२॥ गी० १। ७); (२) *'हौं हौं लाल कबहिं बड़े बलि मैया। रामलषन भावते भरत रिपुदवन चारु चारिउ भैया॥ १॥ बाल बिभूषन बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं। सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ बारने जैहौं॥ २॥ छगन मगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुमुकु ठुमुकु कब धैहौ। कलबल बचन तोतरे

मंजुल कहि माँ मोहि बुलैहौ॥ ३॥ पुरजन सचिव राउ रानी सब सेवक सखा सहेली। लैहैं लोचन लाहु सुफल लखि ललित मनोरथ बेली॥ ४॥ जा सुख की लालसा लटू सिव सुक सनकादि उदासी। तुलसी तेहिं सुखसिंधु कौसिला मगन पै प्रेम पियासी।' (गी० ६) (३) *'छोटी छोटी गोड़ियाँ अंगुरियाँ छबीली छोटी नख जोति मोती मानो कमल दलनि पर। ललित आँगन खेलैं ठुमकु ठुमकु चलैं झुंझुनु झुंझुनु पायँ पैंजनी मृदु मुखर। किंकिनी कलित कटि हाटक जटित मनि मंजु कर कंजनि पहुचियाँ रुचिरतर। पियरी झीनी झंगुली साँवरे सरीर खुली, बालक दामिनी ओढ़ी मानौ बारे बारिधर॥ १॥ उर बघनहा कंठ कठुला झडूले केस, मेढ़ी लटकन मसिबिंदु मुनि मनहर। अंजन रंजित नैन चित चोरै चितवनि मुख सोभा पर वारों अमित असमसर। चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता, बालकेलि गावति मल्हावति सुप्रेम भरि। किलकि किलकि हँसै द्वै द्वै दँतुरियाँ लासैं, तुलसीके मन बसैं तोतरे बचन बर॥'* (गी०. ३०) (प्र० सं०)]

नोट—१ यहाँ माताका पुत्रविषयक स्नेह रति भाव है। श्रीरामजी आलम्बन विभाव हैं। उनकी मृदु मुसुकानि उद्दीपन विभाव है। माताका गोदमें लेकर हलराना, पालनेमें झुलाना आदि अनुभाव हैं। हर्षादि संचारी भावोंसे विस्तृत हो व्यक्त हुआ है। (वीर)

नोट—२ *'सुत सनेह बस…'* इति। जब भगवान् सूतिकागारमें किशोररूपसे प्रकट हुए तब कौसल्याजीको ऐश्वर्यका ज्ञान उत्पन्न हो गया था। प्रभुने उस समय यह सोचकर कि हमें तो अभी बहुत तरहके चरित करना है और ये ऐश्वर्यमें मग्न हैं, हँसकर पूर्वजन्म, तप और वरदानकी बात कही जिसमें माता सुतविषयक प्रेम करे। प्रभुके वचन और हँसीरूपी मायासे उनकी मति बदल गयी और उन्होंने वह रूप छोड़कर शिशुलीला करनेकी प्रार्थना की, बस भगवान् तुरत शिशु हो शिशुचरित करने लगे—*'रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।' 'प्रेम मगन कौसल्या…………'* यहाँतक माताको सुख देनेके लिये शिशुचरित हुए। अब यह देखकर कि ये नितान्त 'सुत स्नेह' में मग्न हैं, ऐश्वर्य सर्वथा भूल गयी हैं, इनको फिर ऐश्वर्यका ज्ञान दिलानेके लिये अद्भुतरूप दिखावेंगे, क्योंकि ये पूर्वजन्ममें वर पा चुकी हैं कि 'अलौकिक विवेक कभी न मिटे' (१५१। ३)। भगवान्‌को यज्ञरक्षाके लिये मुनिके साथ और फिर चौदह वर्षके लिये वनमें जाना है, यदि *'सुत स्नेह'* में ही ये मग्न रहीं तो उन लीलाओंके समय उनको भी बहुत क्लेश होगा और वे यहीं शरीर त्याग दें तो पूर्वका वरदान व्यर्थ हो जायगा। ये सब बातें यहाँ बीजरूपसे *'सुतसनेह बस…'* से जना दी हैं। दोहा २०२ भी देखिये।

प० प० प्र०—दोहेके प्रथम और तीसरे चरणमें एक-एक मात्रा न्यून है, और उनके अन्त्याक्षर दीर्घ होनेसे उच्चारणमें १२-१२ मात्राएँ ही हैं। छन्दोभंग-दोषद्वारा कौसल्याजीका अत्यन्त प्रेमविवश होना सूचित किया। बालचरित गान करनेमें बार-बार गद्‌गद कण्ठ हो जाती हैं, कुछ कहा नहीं जाता। ऐसी दशामें बीच-बीचमें उनकी वाणी रुक जाती है।

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए॥ १॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥ २॥

अर्थ—एक बार माताने (श्रीराम-शिशुको) स्नान कराया और शृङ्गार करके पालनेमें लिटा दिया॥ १॥ (फिर) अपने कुलके इष्टदेव भगवान्‌की पूजाके लिये स्नान किया॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) नहला देनेसे बालकको निद्रा आ जाती है, इसलिये स्नान करा दिया और पालनेमें लिटा दिया जिससे लिटाते ही बालक रामजी सो गये, जैसा आगे स्पष्ट है—*'देखा बाल तहाँ पुनि सूता'* (ख) *'करि सिंगार।'* शृङ्गार तो पूर्व वर्णन कर चुके हैं, स्नानके समय झँगुली, आभूषण आदि सब उतारे गये थे, यह बात *'अन्हवाए'* से ही सूचित कर दी, अतएव अब पुनः शृङ्गार करना लिखा गया। शृङ्गार वही है जो पूर्व लिख आये। (ग) *'निज कुल इष्टदेव भगवाना'* इति। 'अपने कुलके इष्टदेव भगवान्' कहकर जनाया कि भगवान्‌हीको कुलदेवके भावसे पूजती हैं। इसीसे आगे नैवेद्यका 'चढ़ाना' लिखते हैं। यदि केवल भगवान्-भावसे पूजतीं तो नैवेद्यका 'लगाना' लिखते। *'कुल इष्टदेव'* से कुलदेवता सूचित किये।

इष्टदेव और कुलदेव दो पृथक्-पृथक् बातें हैं। 'कुल इष्टदेव' कहकर तब उनका नाम बताया कि 'भगवान्' उनका नाम है। '*निज*' पद दिया क्योंकि अपने-अपने कुलके देवता पृथक्-पृथक् होते हैं।

नोट—१ '***निज कुल इष्टदेव भगवाना***' इति। रघुकुलके कुलदेवता श्रीरङ्गजी हैं। 'भगवान्' कहकर जनाया कि और कोई देवी-देवता इस कुलके इष्ट नहीं हैं, स्वयं भगवान् विष्णु ही इष्टदेव हैं। रघुवंशी वैष्णव हैं। वाल्मीकिजीने इनके कुलइष्टको '*जगत नाथ*' नामसे लिखा है। 'श्रीरङ्गक्षेत्र-माहात्म्यमें श्रीरङ्गजीका विस्तृत वर्णन है। जब सृष्टिके आदिमें भगवान्ने चतुर्भुजरूप हो जलमें शयन किया और उनकी नाभिकमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए एवं ब्रह्माको सृष्टि रचनेका आज्ञा हुई तब उन्होंने प्रार्थना की कि इसमें पड़कर मैं संसारमें लिप्त न हो जाऊँ। भगवान्ने आज्ञा दी कि हमारा स्मरण-भजन करते रहना, इससे संसार-बन्धनमें न पड़ोगे। उस समय ब्रह्माजीने भगवद्-आराधनकी विधि पूछकर फिर प्रार्थना की कि जिससे हमारी उत्पत्ति हुई है इसी स्वरूपका ध्यान मुझे दीजिये। भगवान्ने उस समय यह विमान उनको दिया था। 'रङ्ग' नाम विमानका है जो प्रणवाकार है। उसीमें भगवान्का अर्चाविग्रह भी विराजमान था। जो ध्यान और आराधन ब्रह्माजीको बताया गया वही 'पञ्चरात्र' नामसे ख्यात है। राजा इक्ष्वाकुने जब मनु महाराजसे इसे पढ़ा तब उनको इसका पता लगा; उनकी लालसा हुई कि भगवदाराधनके लिये उस विग्रहको प्राप्त करें। अतः तप करके ब्रह्माजीको प्रसन्न करके वे उसे माँग लाये। परधामयात्राके समय विभीषणजीको श्रीरामचन्द्रजीने यह विग्रह देकर कहा कि ये इस कुलके देवता जगन्नाथ हैं—'**आराधय जगन्नाथं इक्ष्वाकुकुलदैवतम्**।' तुम इनका आराधन करना परंतु मार्गमें कहीं रखना नहीं, पृथ्वीपर रख दोगे तो ये फिर वहाँसे न हटेंगे। विभीषणजी कावेरी-तटपर चन्द्रपुष्करणी क्षेत्रमें पहुँचे तो उनको लघुशंका लगी तब इन्होंने विमान वहाँ रख दिया, फिर विमान वहाँसे न उठा। (कहा जाता है कि आजतक विभीषणजी वहाँ पूजन करने आते हैं। लगभग सं० २०१० की बात है कि वह सरकारी तौरपर परस्पर वाद-विवाद होनेके कारण बंद रहा था, खुलनेपर उसके भीतर दीपक जलता और पूजन किया हुआ पाया गया)।—(वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्य, वृन्दावन)

नोट—२ (क) '*पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना*' से जना दिया कि श्रीरामजीको बिना स्नान किये ही नहलाया था, क्योंकि इनको अपना पुत्र समझती हैं। देवताके लिये स्नान किया। अथवा, प्रथम प्रातःकाल जो स्नान शरीरशुद्धि और नित्यनियम करनेके लिये किया जाता है सो कर चुकी थीं। अब भगवान्की पूजाके निमित्त पुनः स्नान किया, क्योंकि लड़केको तेल-उबटन आदि लगाकर स्नान कराया है, घरका काम किया है, इससे अशुद्ध हो गयी हैं। (यह माधुर्यमें कर रही हैं।)

नोट—३ यहाँ गोस्वामीजी सूक्ष्म रीतिसे अन्नप्राशन (पसनी) उत्सवका वर्णन कर रहे हैं। आज बालक रामको प्रथम-प्रथम अन्न चटानेका मुहूर्त और तिथि है। इसीलिये माताने प्रभुको स्नान कराकर वस्त्राभूषणादिसे शृङ्गार करके पालनेमें लिटा दिया। प्रायः स्नानसे बच्चेको नींद आ जाती है, वही यहाँ हुआ। राम शिशु सो गये। तब माताने जाकर स्नान और पूजन किया। माधुर्यमें मग्न होनेके कारण सोचा कि अपने कुलदेवता भगवान्को भोग लगाकर बच्चेको प्रसाद पवावें (खिलावें)। अतएव भगवान्के आगे पक्वान्नका थाल रखकर भगवान्को निवेदित किया।

करि पूजा नैबेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा॥ ३॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई॥ ४॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता॥ ५॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदयँ कंप मन धीर न होई॥ ६॥

शब्दार्थ—**नैबेद्य** (नैवेद्य)=वह भोजनकी सामग्री जो देवताको चढ़ायी या निवेदित की जा सके।=भोग (घी, चीनी, श्वेतान्न, दधि, फल इत्यादि नैवेद्य द्रव्य कहे गये हैं। नैवेद्य देवताके दक्षिण भागमें रखना चाहिये। कुछ ग्रन्थोंका मत है कि पक्व नैवेद्य बाएँ और कच्चा दाहिने रखना चाहिये)। **पाक**=पक्वान्न, रसोई। **सूता**=सोता हुआ।

अर्थ—पूजा करके उन्होंने नैवेद्य चढ़ाया। फिर स्वयं वहाँ गयीं जहाँ पक्वान्न बनाया गया था। अर्थात् रसोईमें गयीं॥ ३॥ वहाँसे माता चलकर फिर वहीं (श्रीरङ्गमन्दिरमें) आयीं। पुत्र वहाँ जाकर भोजन कर रहा है यह देखकर (वा, वहाँ जाकर पुत्रको भोजन करते देख)॥ ४॥ माता भयभीत होकर (अपने) शिशुके पास गयीं (जहाँ उसे सुलाकर आयी थीं) तो वहाँ बालकको फिर भी सोता हुआ देखा॥ ५॥ फिर (श्रीरङ्गमन्दिरमें) आकर (यहाँ भी) उसी पुत्रको देखा। [वा, जो पुत्र भोजन करता था उसीको फिर देखा। (पं० रामकुमार)] उनका हृदय काँपने (धड़कने) लगा। मनमें धैर्य नहीं होता॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'आपु गई।'* नैवेद्य अर्पण करके वहाँसे हट जाना होता है। भोग लगते समय पर्दा डाल दिया जाता है कि देवता उसे ग्रहण करें। इसीसे माता नैवेद्य चढ़ाकर स्वयं पाकशालामें चली गयीं। *'पाक'* के दर्शनका माहात्म्य है, इसीसे वहाँ गयीं और पाकका दर्शन किया। [इसलिये भी जाना हो सकता है कि देख लें कोई भोगका पदार्थ रह तो नहीं गया। रसोई (पक्वान्न) ले जाकर भगवान्को अर्पण कर दी, पश्चात् आकर पाकका दर्शन करनेका भाव अपने समझमें नहीं आता और न उसका विधान वा प्रमाण ही मालूम है।]

नोट—१ नैवेद्य चढ़ाना=भोग लगाना। यह मुहावरा है। देवताको खानेके पदार्थ सामने रखकर निवेदन करना कि यह नैवेद्य आपको अर्पण है, आप इसे स्वीकार करें, भोग लगायें, खायँ, कृतार्थ करें। पुनः यह भी रीति है कि देवताके हाथ, कंधे, शीश और मुखपर नैवेद्य रख देते हैं, अतएव *'चढ़ाना'* कहा जाता है। इस शब्दसे दोनों मतोंकी रक्षा होती है। पं० रामकुमारजीका मत ऊपर लिखा जा चुका है कि भगवान्को कुलदेवके भावसे पूजा करनेसे *'चढ़ावा'* कहा, भगवान्भावसे पूजतीं तो *'लगावा'* कहते।

टिप्पणी—२ (क) *'बहुरि मातु तहवाँ चलि आई।'* अर्थात् जब समझ लिया कि अब भोग लग चुका, भगवान् पा (खा) चुके, तब उनको आचमन करानेके लिये आयीं। *'तहवाँ'* अर्थात् जहाँ नैवेद्य चढ़ाया था। (ख) *'भोजन करत देखि सुत जाई'* इति। श्रीरामजी भोजन करने लगे, इससे जनाया कि इनके कुलदेव भगवान् श्रीरामजी ही हैं क्योंकि यदि भगवान् रामचन्द्रजीको छोड़ कोई और कुलदेव होता तो श्रीरामजी दूसरेका भाग न खाते।

टिप्पणी—३ (क) *'गै जननी सिसु पहिं भयभीता'* इति। शिशुके लिये चिन्तित हो भयभीत हो गयीं कि मेरे बालकको कुछ हो तो नहीं गया। मैं तो बच्चेको पालनेपर सुला आयी थी, यहाँ कैसे आया? यहाँ किसने लाकर बिठा दिया? इत्यादि। *'जननी'* का भाव कि जिस पुत्रको उन्होंने जन्म दिया था उसके पास गयीं, जो बालक भोजन कर रहा है यह कौन है इसमें सन्देह है।

(ख) *'पुनि सूता।'* भाव कि एक बार उसे सोता हुआ देखकर तब स्नान, पूजा और रसोईके लिये गयी थीं, अब जब फिर गयीं तब भी वहाँ बच्चेको ज्यों-का-त्यों सोता हुआ पाया। *'सूता'* अवधप्रान्तकी बोली है। (ग) *'बहुरि आइ देखा सुत सोई।''''* इति *'सोई'* वही पुत्र जिसको प्रथम भोजन करते देख गयी थीं। [वा, जिसे पालनेपर सोता छोड़ आयी थीं। (घ) एक ही बालक श्रीरामको पालनमें सोते और रङ्गमन्दिरमें भोजन करते वर्णन करना तृतीय विशेषण अलङ्कार है। (वीर)]

(ङ) *'हृदयँ कंप''।'* प्रथम जब भोजन करते देखा था तब भयभीत हुई थीं। जब यहाँ और वहाँ दो बालक निश्चित हो गये तब हृदय कम्पित हुआ अर्थात् विशेष भय हो गया। यही दशा सतीजीकी हुई थी, यथा—*'हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठीं मग माहीं॥'* (५५। ६) (च) *'मन धीर न होई'* अर्थात् धैर्य धारण करना चाहती हैं पर धीरज होता नहीं। कारण आगे कहते हैं—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा॥ ७॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिसेषा**=भेद।=खास बात। **आन**=दूसरी, अन्य। **मुसुकानी**=मुस्कान।

अर्थ—(मनमें सोच रही हैं कि मैंने) यहाँ और वहाँ दो बालक देखे। यह मेरी बुद्धिका भ्रम है

या कोई और विशेष (खास कारण वा बात) है॥ ७॥ प्रभु श्रीरामचन्द्रजी माताको व्याकुल देखकर मधुर (मन्द मीठी) मुस्कानसे हँस दिये॥ ८॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी ***'आन बिसेषा'*** का अर्थ 'विशेष दूसरा बालक है' ऐसा करते हैं। सुत जो भोजन कर रहा है उसके निकट खड़ी हैं, इसीसे ***'इहाँ'*** कहती हैं और जहाँ बालक पालनेमें सो रहा है उसके लिये ***'उहाँ'*** कहा। यह बात निश्चय करना चाहती हैं कि बात क्या है पर निश्चय नहीं होता। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि ***'आन बिसेषा'*** अर्थात् कोई और खास बात है, ऐसा तो नहीं है कि कुलदेवने ही यह माया रची हो। (मेरे पुत्रका रूप धरकर भोजन करने लगे हों)। शङ्का-निवारणार्थ विचार करती हैं, यह 'वितर्क संचारी भाव' है।

टिप्पणी—१ ***'प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी'*** इति। माताकी व्याकुलता दूर करनेके लिये हँसे, यथा—***'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।'*** (२। २३९) और हँसकर मायाका विस्तार किया जैसा आगे कहते हैं—***'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।'*** मधुर मुस्कानसे हँसनेका भाव कि ठट्ठा मारकर हँसनेसे माता अधिक भयभीत हो जातीं, अतः जैसे सदा माताकी ओर देखकर हँसा करते थे वैसे ही मंद मुस्कानसे हँस दिये। इसी प्रकार जब सतीजी दुःखित हुई थीं तब उनको अपना कुछ प्रभाव दिखाया था—***'जाना राम सती दुख पावा। निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा॥'***

नोट—२ (क) जननी अकुला उठी, अर्थात् अद्भुतरससे भयानकरस हो जाने ही चाहता है यह देखकर प्रभु हँस दिये। 'कौसल्याजीमें भय स्थायी था। हास्यरस दर्शित करके प्रभुने उसको शान्त कर दिया। जब विस्मयमात्र स्थायी रह गया तब अपना अर्थात् अद्भुत रूप दिखाते हैं।' (वै०) (ख) यहाँ 'हास्यकलाकी बड़ी ही सुन्दर युक्ति है कि भ्रम उत्पन्न कर दिया जाय। हास्यचरित्र जब भयभीत हो जाय तब हँसकर उसका परिहास हो। यह युक्ति यहाँ बड़े कोमलरूपमें प्रयुक्त हुई है। (लमगोड़ाजी) (ग) कुछ लोगोंने यहाँ शङ्का उठाकर कि ***'हँसि'*** और ***'मुसुकानी'*** में पुनरुक्ति है', उसका समाधान यों किया है कि हँसकर माया डाली और मधुर मुस्कान तो उनका सहज स्वभाव ही है। परंतु हमारी समझमें तो ***'मधुर मुसुकानी'*** से हँसीका प्रकार बताया है। इसमें पुनरुक्ति है ही नहीं। (घ) बाबा हरिदासजीका मत है कि 'माताको घबड़ायी हुई देख श्रीरामजी हँस दिये कि हमने तो सूतिकागारहीमें प्रकट होकर जना दिया था कि हम ईश्वर हैं जिन्होंने तुम्हें वर दिया था तब क्यों भूलमें पड़ रही हो। तब माता भी मुस्करा दीं कि हाँ ठीक है, आपकी माया प्रबल है। प्रथम यह बात जनाकर तब विराट्रूप दिखाया, नहीं तो और अधिक घबड़ा जातीं।' इस तरह वे ***'मधुर मुसुकानी'*** को मातामें लगाते हैं।

दो०—देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड*॥ २०१॥

अर्थ—(प्रभुने) माताको अपना अद्भुत अखण्ड रूप दिखलाया जिसके रोम-रोममें करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए हैं॥ २०१॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ भगवान्‌के रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड देख पड़े और भुशुण्डिजीको भगवान्‌के पेटमें करोड़ों ब्रह्माण्ड देख पड़े थे; यथा—***'उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥'*** (७। ८०) इससे सूचित हुआ कि भगवान्‌के भीतर-बाहर असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं। (ख) ***'देखरावा'*** इति बिना दिखाये रूप नहीं देख पड़ता; अतएव ***'देखरावा'*** कहा। [बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ 'दिखावा' सकर्मार्थक क्रिया न देकर ***'देखरावा'*** कहा जो प्रेरणार्थक क्रिया है। इसका भाव यह है कि आपने न दिखाया, अपने दूसरे रूपसे

* 'रोम-रोम प्रति लागे' इस चरणमें १२ मात्राएँ हैं, अन्त्याक्षर दीर्घ है। मात्राकी न्यूनताद्वारा जनाया कि माता आश्चर्य और भयसे स्तम्भित एवं चकित हो गयी हैं। अकुलानी तो पहलेसे ही हैं, अब शरीर काँपने लगा। (प० प० प्र०)

'देखरावा।' दोनों रूप वर्तमान हैं। जिस रूपसे शयन किये हुए हैं वह नैमित्त्य (नैमित्तिक) है। उसमें प्रथम शिशु हुए। फिर प्रतिदिन उस रूपकी वृद्धि होती गयी। दाँत निकले, बकैयाँ चले, इत्यादि। आगे यज्ञोपवीत, विद्यारम्भसंस्कार, पौगण्ड, कुमार और किशोरादि होंगे। इत्यादि। इस नैमित्तिक रूपसे नरनाट्य करते हुए पृथ्वीका भार उतारेंगे। इस रूपसे ऐश्वर्य नहीं दिखायेंगे, माधुर्य लीला ही करेंगे। और, जिस रूपसे श्रीरंगमन्दिरमें भोजन करते हैं वह प्रभुका नित्य बालरूप है जिसका स्मरण-ध्यान शान्त वा वात्सल्यरसवाले भुशुण्डि, सनकादि और लोमशादि मुनि करते हैं। उस नित्य रूपसे यह अद्भुतरूप दिखाया। अर्थात् जो ऐश्वर्य गुप्त रखे हुए थे उसे प्रकट कर दिया।'] (ग) *'अद्भुत रूप'*—अर्थात् जिसे न कभी सुना था न देखा, यथा *'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥'* (७। ८) *'निज'* का भाव कि मत्स्य, कमठ आदि अवतारोंके रूप धारण करनेसे हैं और यह रूप स्वतः है, धारण करनेसे नहीं। (घ) *'अखंड'* का भाव कि यह रूप सदा एकरस रहता है, इसके खण्डन होनेसे समस्त ब्रह्माण्डोंका नाश है।

नोट—१ ☞ कौसल्याजीने सोया हुआ रूप देखा, भोजन करता हुआ रूप देखा और विराट्रूप देखा। इसमें बात यह है कि जब कौसल्याजीने श्रीरामजीकी स्तुति की तब तीन रूपोंका वर्णन किया। निर्गुण, सगुण और विराट्। यथा—*'माया गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता'* यह निर्गुणरूप है। इसीसे सोया हुआ रूप देखा जो गुणोंसे रहित और जगत्के व्यवहारसे भिन्न है। दूसरे *'करुना सुखसागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता'*, यह स्तुतिमें सगुणरूपका वर्णन है। अतएव जागता हुआ रूप देखा जो करुणा, सुख और दिव्य गुणोंका सागर है। तीसरे *'ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै'*, यह विराट्रूपका वर्णन है जो उस स्तुतिमें ही है। इसीसे विराट्रूपका भी दर्शन कराया गया—*'देखरावा मातहि"रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥'* (पाँड़ेजी)

नोट—२ यह अद्भुत रूप इस समय दिखानेका क्या प्रयोजन था? उत्तर—(क) प्रभुने अलौकिक ज्ञान देनेका वचन दिया है। यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* (१५१। ३) इस समय उस अनुग्रहका उचित अवसर है, क्योंकि माता वात्सल्यरसकी अधिकतामें आपका ऐश्वर्य भूल गयी हैं। कहाँ तो यह अनन्यता पूर्व जन्ममें कि *'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥'* और लालसा भी उन्हींके दर्शनोंकी थी; यथा *'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥'* फिर दर्शन होनेपर उन्हींको पुत्ररूपसे माँग लिया। अब जब पुत्ररूप हो घरमें वर्तमान हैं तो उनको भूलकर इनसे भिन्न दूसरेको अपना इष्टदेव मानकर उनका प्रसाद प्रभुको देना चाहती थीं। प्रभुने अपने रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड जिनमेंसे प्रत्येकमें एक-एक ब्रह्मा-विष्णु-महेश-नारायण आदि थे, दिखाकर ज्ञान दिया कि 'हम ही तुम्हारे इष्टदेव हैं जिनको तुमने वरमें पुत्र-भावसे माँगा था और ये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और देवता हमारे अंशसे हैं। हमहीमें सब हैं, हमसे पृथक् कुछ नहीं, हमारे विद्यमान रहते तुम अन्यकी भावना क्यों करती हो, रङ्गजीने कभी प्रकट होकर भोजन न पाया हम साक्षात् पा रहे हैं। इस स्वरूपके देखते ही उनको ज्ञान हो गया कि *'जगत पिता मैं सुत कर माना'*; बस यही ज्ञान देना था। (ख) इसका एक उत्तर *'सुत सनेह बस माता'* दोहा २०० के नोटमें लिखा गया है। (ग) 'यहाँ कौसल्या अम्बाको रोम-रोममें अमित ब्रह्माण्ड दिखाये परन्तु श्रीभुशुण्डिजी, यशोदाजी और अर्जुनजीको मुखके भीतर यही सब दिखाया था न कि बाहर?' यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर महानुभावोंने यह दिया है कि *'प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।'* माताने प्रथम सूतिकागारमें दर्शन होनेपर स्तुतिमें कहा था कि *'ब्रह्मांडनिकाया निरमित माया रोम रोम प्रति बेद कहै'* जिससे यही माताका निश्चित विश्वास प्रकट होता है। अतएव भगवान्ने उसी प्रकारका रूप दिखाया कि जिसमें वे उसीमें और दृढ़ हो जायँ और उनको विश्वास हो जाय कि ये वही भगवान् हैं। (इस विराट् दर्शनका मिलान भुशुण्डिवाले विराट् दर्शनसे कर लें जो ७। ८०। २ से लेकर दोहा ८२ तकमें वर्णित है)। (घ) मानसी वंदनपाठकजी यह प्रश्न करते हुए कि 'माताको तो पूर्व अलौकिक विवेक दे

चुके थे फिर उस रूपके भूलने और विश्वरूपके दर्शनमें क्या हेतु है?' उसका उत्तर यह देते हैं कि 'ग्रन्थकारका संकल्प है कि *'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥'* व्यासजीने गीतामें विश्वरूपदर्शन अर्जुनजीके हेतुसे कहा है और श्रीमद्भागवतमें माताको मुख दिखानेके हेतुसे विराट् दर्शन कहा, वैसे ही यहाँ माताद्वारा विश्वरूपका दर्शन कराना सिद्ध है।'

नोट—३ श्रीदीनजी यहाँ 'अल्पालङ्कार' और वीरकविजी 'द्वितीय अधिक अलङ्कार' मानते हैं।

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन॥ १॥
काल कर्म गुन ज्ञान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥ २॥
देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥ ३॥
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही॥ ४॥

अर्थ—अगणित (बे गिनती, असंख्य) सूर्य, चन्द्रमा, शिव और ब्रह्मा, बहुत-से पर्वत, नदियाँ, समुद्र, पृथ्वी वन॥ १॥ काल, कर्म, गुण, ज्ञान और स्वभाव, एवं और भी पदार्थ देखे जो कभी सुने भी न थे॥ २॥ जो सब प्रकार प्रबल है, उस मायाको देखा कि (भगवान्‌के सामने) अत्यन्त भयभीत हाथ जोड़े हुए खड़ी है॥ ३॥ जीवको देखा जिसे वह (माया) नचाती है और भक्तिको देखा जो उसे (जीवको) छुड़ाती वा छोड़ देती है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'अगनित रबि ससि'* इति। रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें सूर्य-चन्द्रमा, शिव और ब्रह्मा भिन्न-भिन्न हैं, इसीसे इन सबोंको अगणित कहा। (ख) *'बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन'* इति। पर्वतसे नदी निकली है, नदीसे समुद्र है (समुद्रमें नदियाँ जाती हैं एवं समुद्र सरित्पति है), समुद्रसे पृथ्वी है, यथा *'अद्भ्यः पृथ्वी संभूता',* और पृथ्वीसे वन होते हैं। अतएव गिरिसे प्रारम्भकर क्रमसे सरित आदि कहे गये। प्रथम यह कहकर कि रोम-रोममें असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं, यहाँ ब्रह्माण्डोंके भीतरका हाल लिखते हैं। *'अगनित रबि'* इत्यादि ब्रह्माण्डके अभ्यन्तरके पद हैं। (ग) एक ही समयमें रवि और शशि दोनोंका देखना कैसे सम्भव है? उत्तर यह है कि दोनोंको एक साथ कहकर जनाते हैं कि किसी ब्रह्माण्डमें रात है और किसीमें उसी समय दिन है (अथवा, यह भी अद्भुतता है जो रूपमें देखी)।

टिप्पणी—२ (क) *'काल कर्म गुन ज्ञान सुभाऊ'* इति। [भागवतदासजीका पाठ *'गुन दोष सुभाऊ'* है और पं० रा० कु० जीने उसी पाठपर भाव कहे हैं*। ऐसी ही उत्तरकाण्डमें एक अर्धाली है; यथा ***'काल करम गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ॥'*** (७। ११४) (लोमशवचन भुशुण्डिप्रति)। पिछले चरणका ***'बहु'*** इन सबोंका भी विशेषण है। अथात् काल-कर्मादिके बहुत रूप देखे। ***सुभाऊ*** (स्वभाव)=जीवोंकी प्रकृति। [लव, निमेष, दण्ड, घड़ी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर आदि 'काल'; शुभाशुभ कर्म जैसे तप, यज्ञ, हिंसा, चोरी आदि; शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वभाव बनता है जो जन्मसे ही होता है। गुण सत्त्व, रज, तम। अथवा, स्वरूपधारी कालका रूप, कर्मरूप पुरुष, ज्ञान, परोक्ष और अपरोक्ष आदि और स्वभाव इन सबोंको रूपवान् (मूर्तिमान्) देखा। (रा० प्र०)]। काल कर्म, गुण स्वभाव चक्षुके विषय नहीं हैं। इनका योगज प्रत्यक्ष होता है। योगज प्रत्यक्ष होना ही इनका देखा जाना है, सो माता कौसल्याको इन सबका प्रत्यक्ष हुआ। एक ब्रह्माण्डका जीव उसीकी व्यवस्थाको थोड़ा-बहुत जानता है, दूसरेके विषयमें वह कुछ नहीं जानता। दूसरे ब्रह्माण्डोंमें ऐसी बातें हैं जिन्हें लोगोंने न देखा है न सुना। उन सब अनन्त विशेषताओंका प्रत्यक्ष माता कौसल्याको हुआ। अर्जुनको केवल इस ब्रह्माण्डके विश्वरूपका

* प० प० प्र० भी 'दोष' पाठके पक्षमें हैं। कालानुसार कर्म होता है, कर्मानुसार सत्त्वादि गुण बढ़ते हैं। गुणोंका कार्य दोष, दोषसे दुःख। गुण-दोष मायाकृत हैं और ज्ञान तो माया तथा संचितादि कर्मोंका निरास करता है। काल-कर्म-गुण-स्वभाव सुख-दुःखदायक हैं और ज्ञान-मोह-विनाशक तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त करनेवाला है। अतः गुन और सुभाऊके बीचमें 'ज्ञान' को रखना उचित नहीं। (प० प० प्र०)

दर्शन हुआ था। यों कौशल्याके प्रत्यक्षसे उसकी तुलना ही नहीं। (वि० त्रि०) (ख) *'सोउ देखा जो सुना न काऊ'*, यथा—*'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। जो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥'* (७। ८०) जो कभी सुना भी न था सो देखा, इसका कारण यह है कि भगवान्‌के उदरमें सब प्रपंच अन्य-ही-अन्य भाँतिका है यथा—*'देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥ महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनै आना॥'* (७। ८१)—ये सब न सुने थे सो भी देखे।

टिप्पणी—३ (क) *'देखी माया सब बिधि गाढ़ी'* इति। सब विधि गाढ़ी अर्थात् दृढ़ है, प्रबल है। सब प्रकार अर्थात् रूपसे, सेनासे और स्वभावादि सभी तरह। [*'गाढ़ी'* अर्थात् जिसका बन्धन बड़ा कठिन है। इस विशेषणको देकर सूचित किया कि उसकी प्रचण्ड सेनासहित उसको देखा। *'माया कटक प्रचंड'* का वर्णन ७। ७० (६)-७१ में देखिये।] बैजनाथजी 'सब बिधिकी माया अर्थात् आह्लादिनी, संदीपनी, संधिनी, विद्या, अविद्या इत्यादि सब प्रकारकी दुस्तर माया' ऐसा अर्थ करते हैं। (ख) *'अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी'* इति। तात्पर्य कि मारे डरके बैठती नहीं। शिशुलीलाप्रसंगमें मायाके सम्बन्धमें तीन बार उल्लेख हुआ।—*'जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥'*, *'भृकुटि-बिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही'* और *'देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥'* तात्पर्य कि 'माया प्रथम श्रीरामजीसे भयसहित बोलती रही, तब पूछकर नाचने लगी, और जब नाच चुकी तब हाथ जोड़े खड़ी है।' ['अति सभीत हाथ जोड़े' खड़ी होनेका भाव यह भी कहा जाता है कि 'उसने कुछ अपराध अवश्य किया है जिससे वह हाथ जोड़े भयभीत खड़ी है। वह अपराध क्या है? वह यह है कि भक्तिके अधिकारी जीवको उसने बाँध रखा था। भक्ति उसे छोड़ रही है। छूटनेका लक्षण यह है कि वह जीव प्रेमसे भगवत्-यश-श्रवण-कीर्तन करता है।] (ग) ब्रह्माण्ड कहकर माया कही क्योंकि ब्रह्माण्डोंकी रचयिता माया ही है, यथा—*'लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥'* (२२५। ४) अतएव कार्य कहकर कारण भी कहा।

टिप्पणी—४ (क) *'देखा जीव नचावै जाही…'* इति। काल, कर्म, गुण, दोष, स्वभाव—ये ही जीवके दुःखदाता हैं; यथा—*'काल करम गुन सुभाउ सबके सीस तपत'* (विनय०), *'काल करम गुन दोष सुभाऊ। कछु दुखु तुम्हहि न ब्यापिहि काऊ॥'* (७। ११४) जीवको बाँधनेवाली माया देखी, जीवको छुड़ानेवाली भक्ति देखी, यह कहकर जनाया कि ये सब मूर्तिमान् देख पड़े। माया जीवको वशमें किये हैं; यथा—*'जीव चराचर बस कै राखे'*; इसीसे उसको नट-मर्कट-नाई जो चाहती है, वही नाच नचाती है। श्रीरामजी मायाको वश किये हैं, वह सदा अत्यन्त सभीत हाथ जोड़े खड़ी रहती है, जैसा चाहते हैं उसे नचाते हैं,—*'भृकुटि बिलास नचावै ताही'*। तात्पर्य कि जैसे मायाके आगे जीव असमर्थ हैं, वैसे ही श्रीरामजीके आगे माया असमर्थ है। और कोई उस जीवको बन्धनसे छोड़ देना चाहे तो माया उसे छोड़ने नहीं देती, यथा—*'छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया॥'* (७। ११८) जब भक्ति छोड़ती है तब माया विघ्न नहीं करती, क्योंकि वह भक्तिसे डरती है; यथा—*'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥'* (७। ११६) [*'छोरै'* अर्थात् छोड़ देती है; इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि भक्ति स्वतन्त्र है, वह जीवको बन्धनसे छोड़ देनेको समर्थ है। यह कहते हुए कि इस दुष्टा मायाने बेचारे भोले-भाले जीवको बन्धनमें डाल रखा है, वह उस बन्धनको काटकर उसे छोड़ देती है। पुनः, 'छोड़ती है' अर्थात् काल-कर्म-स्वाभावादिकी गति रोककर, सत्त्व-रज-तम गुणोंके फंदेको तोड़कर, श्रवण-कीर्तनादिकी गतिमें लगाकर जीवको प्रभुके सम्मुख कर देती है। (वै०) *'जीव चराचर बस करि राखे। सो माया प्रभु सों भय भाषे॥ भृकुटि बिलास नचावै ताही।'* यह वाक्य यहाँ चरितार्थ किया। (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—कौसल्याजीको पुत्र-मोहसे छुड़ाने और अपनी मायासे मुक्त करनेके लिये ही यह विश्वरूप-दर्शनकी लीला है। कौसल्याजीने सब मर्म इस घटनासे जान लिया और *'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि'* ऐसा वर माँग लिया। माया तो सारे जगत्‌को नचाती है, यथा—*'जो माया सब जगहि नचावा…॥'* (७। ७२)

'जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।' (३। १५। २) तब यहाँ 'जीव' एकवचनका प्रयोग क्यों? उत्तर—एकवचनसे जनाया कि कौसल्याजीने देखा कि अपने (मेरे) जीवको माया नचाती है और यह भी देखा कि भक्ति उसे मायाबन्धनसे छोड़ रही है। राम भगवान् परमात्मा हैं, यह इतने दिन भूल गयी थीं, यही उनके जीवको नचाना है। प्रभुने स्पष्ट दिखा दिया कि तू अज्ञानी बनकर मोहमें फँस गयी थी पर मेरी भक्ति करती है इसीसे मैंने भक्तिको आज्ञा दी कि तुझको मोहबन्धनसे छुड़ा दे। मायाने तुझे मोहमें डाला था इसीसे वह मेरे सामने नाचती और क्षमा चाहती है।

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूदि चरननि सिरु नावा॥५॥
बिसमयवंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसुरूप खरारी॥६॥
अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगत पिता मैं सुत करि जाना॥७॥

शब्दार्थ—**बिसमयवंत**=आश्चर्ययुक्त, डरी हुई। **बहुरि**=फिरसे, दुबारा, पुनः।

अर्थ—शरीर पुलकित हो गया (रोएँ खड़े हो गये), मुखसे वचन नहीं निकलता। (माताने) आँखें बन्दकर चरणोंमें सिर नवाया॥ ५॥ माताको भयभीत देख खरके शत्रु श्रीरामजी फिर शिशुरूप हो गये॥ ६॥ स्तुति नहीं करते बनती, डर गयी हैं कि (अरे!) जगत्पिताको मैंने पुत्र ही समझ लिया था॥ ७॥

नोट—१ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि भक्ति अर्थात् विद्यामायाके देखते ही माताकी आँखें खुल गयीं। बाल-चरितमें भूली हुई थीं सो भक्तिको देखते ही थाह-सी पा गयीं। प्रभुके प्रभावका, उनके ऐश्वर्यका स्मरण हो आया, इसीसे 'तन पुलकित' हो गया।

टिप्पणी—१ (क) पुलक प्रेमसे भी होता है और भयसे भी, पर यहाँ डरसे ही रोंगटे खड़े हो गये हैं, जैसा आगे स्पष्ट है—*'अस्तुति करि न जाइ भय माना।'* भयसे वचन मुँहसे नहीं निकलते और भारी व्याकुलता होनेपर आँखें मुँद जाती ही हैं; यथा—*'मूदेउँ नयन त्रसित जब भयऊँ।'* (७। ८०) *'नयन मूदि बैठीं मग माहीं।'* (५५। ६) तथा यहाँ *'नयन मूदि चरननि सिरु नावा'*। (ख) पुनः *'मुख बचन न आवा'* का भाव कि बोलना चाहती हैं, कुछ कहनेकी—स्तुति करनेकी इच्छा होती है पर वचन नहीं निकलता। (ग) *'बिसमयवंत देखि महतारी'* इति। विराट्रूप देख माताको विस्मय हुआ और जब वे पुनः शिशुरूप हो गये तब भय माना कि *'जगतपिता मैं सुत करि जाना।'* माताको विस्मित देख शिशुरूप हो गये, इससे जनाया कि माताका दुःख न देख सके, करुणा आ गयी; यथा—*'करुनामय रघुनाथ गुसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥'* (घ) *'भए बहुरि सिसुरूप खरारी'* इति। *'खरारी'* नाम साभिप्राय है। इससे जनाया कि (खरादि राक्षसों वा) खलोंको मारना है इसीसे ऐश्वर्य छिपाते हैं और इसीसे पुनः शिशुरूप हो गये। *'बहुरि'* का भाव कि प्रथम माताकी जन्म-समयकी स्तुति सुनकर वे शिशुरूप हुए थे, यहाँ शिशुरूप छोड़ विराट्रूप हो गये थे, अब पुनः शिशुरूप हो गये।

नोट—२ 'शिशुरूप' हो गये, इस कथनसे स्पष्ट कर दिया कि माताको मुखारविन्दके भीतर विराट्रूपका दर्शन नहीं कराया था वरंच साक्षात् विराट्रूप धारण कर लिया था। खरके वधमें अनेक रूप धारण किये थे। वहाँ यह कौतुक किया था कि सभी एक-दूसरेको रामरूप ही देखने लगे थे। यहाँ भी कौतुक किया है। जब-जब भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं तब-तब प्रायः इस नामका प्रयोग होता है। यह शब्द अतिशय सौन्दर्य भी प्रकट करनेके लिये प्रयुक्त होता है। पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि 'खर' पद केवल उपलक्षणमात्र है। देवताओंके सर्वनाम और सर्व विशेषण सर्वकालमें दिये जाते हैं। यथा—*'कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि।'* (१००) विशेष *'सोभासिंधु खरारी।'* (१९२) में देखिये।

नोट—३ यहाँ प्रभुका विराट्रूप देखकर माताका आश्चर्य स्थायीभाव है। श्रीरामजी आलम्बन विभाव हैं। रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्डों तथा शिव-ब्रह्मादिके दर्शन उद्दीपन विभाव हैं। हृत्कम्प, स्तम्भ आदि अनुभावोंद्वारा व्यक्त होकर शंका आदि संचारी भावोंकी सहायतासे 'अद्भुत रस' हुआ है।

टिप्पणी—२ (क) *'अस्तुति करि न जाइ भय माना'* इति। ईश्वरको पुत्र मानना यह भयकी बात है; यथा—*'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥ अस समुझत मन संसय होई।'* (१५०। ६,७) (ख) *'अस्तुति करि न जाइ'* का भाव कि प्रथम बार जब अद्भुतरूप देखा था तब स्तुति की थी, यथा—*'हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी।'* (१९२) अब पुनः अद्भुतरूप देखा,—*'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।'* इस रूपको भी देखकर स्तुति करना चाहती हैं पर भयके कारण स्तुति नहीं कर सकतीं। (ग) *'भय माना'* इति। भाव कि श्रीरामजीकी ओरसे माताको कुछ भी भय नहीं है फिर भी माताने अपने मनसे भय मान लिया है। (घ) *'जगतपिता मैं सुत करि जाना'* इति। पिताको पुत्र मान लेना पाप एवं भारी धृष्टता है। (ङ) जन्मसमयके अद्भुतदर्शनपर भगवान्‌की अनन्तता विचारकर सोचती थीं कि स्तुति कैसे करें; यथा—*'कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता।'* और यहाँ भयके कारण स्तुति नहीं कर सकतीं। [(च) जगत्-पिताको पुत्र समझा यह अपराध विभाव, कम्पादि अनुभाव, दीनता संचारी और भय स्थायी होनेसे 'भयानकरस' आ गया। (वै०) यहाँ 'द्वितीय असंगति अलङ्कार' की ध्वनि है। (वीर)]

हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥ ८॥

दो०—बार बार कौसल्या बिनय करै कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥ २०२॥

शब्दार्थ—**ब्यापै**=फैले, असर करे, मोहित करे, सतावे, व्याप्त हो। **जनि**=मत, नहीं। **माई**=माता।

अर्थ—भगवान्‌ने माताको बहुत तरहसे समझाकर कहा—हे माता! सुनो, यह बात कभी कहीं न कहना॥ ८॥ कौसल्याजी हाथ जोड़कर बारंबार विनती करती हैं कि 'हे प्रभो! मुझे आपकी माया अब कभी भी न व्यापै॥' २०२॥

टिप्पणी—१ (क) *'हरि जननिहि बहु बिधि समुझाई'* । इति। [यहाँ 'हरि' नाम दिया क्योंकि समझाकर माताका विस्मय हरण किया है] (ख) जब माताको विस्मय हुआ तब भगवान्‌ने शिशुरूप होकर समझाया जैसे जन्मसमय समझाया था; यथा—*'कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।'* समझाकर तब ऐश्वर्य प्रगट करनेको मना किया। (ग) *'बहु बिधि'* यह कि तुम भय न मानो कि हमने जगत्-पिताको पुत्र करके माना। तुम पूर्व अदिति रही हो, कश्यपजीके साथ तुमने तीन कल्पोंमें तप किया था और इसी तरह स्वायम्भुव मनुके साथ शतरूपा रही हो। वहाँ भी तुमने मनुजीके साथ तप किया था। दोनों रूपोंमें तुमने हमसे यही वर माँगा था कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँ। इसीसे हम तुम्हारे पुत्र हुए हैं। [पुनः, समझाया कि तुमने हमसे यह भी वर माँगा था कि 'हमारा विवेक बना रहे, हम वात्सल्यमें बिलकुल भूल न जायँ; आपके ऐश्वर्यका ज्ञान, आपका स्वरूप कभी ध्यानसे जाता न रहे; जो सुख, जो भक्ति, जो अनन्य प्रेम, जो विवेक और जो रहनी आपके 'निज भक्त' चाहते हैं वह सब हमें मिले। इस समय तुम वात्सल्यमें मग्न होकर हमारा स्वरूप भूल गयी थीं, हमको इष्टदेवसे भिन्न बालक ही समझने लगी थीं। तुम्हारे इष्टदेव तो हम ही हैं। शतरूपारूपमें जिनके दर्शनके लिये तुमने तप किया था, यथा—*'देखिय नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥'* (१४४। ३। ६) हम वही हैं। तुम्हारे प्रेमके वश वात्सल्यसुख देनेके लिये बालकरूपसे तुम्हारे यहाँ क्रीड़ा कर रहे हैं। इत्यादि। इसी कारण विराट्-दर्शनमें ईश्वर-जीवका भेद भी दर्शित कराया है। यह रूप राजाको कभी न दिखाया क्योंकि वे माधुर्यके उपासक हैं, उन्होंने वर माँगा था कि *'सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥'* (१५१। ५) इस रूपके दर्शनका सौभाग्य तुम्हींको प्राप्त हुआ है। इस दिव्यरूपका दर्शन पूर्वकी तपस्याके फलसे ही तुमको हुआ है इत्यादि। **'रूपमेतत्त्वया दृष्टं**

प्राक्तनं तपसः फलम्॥' (अ० रा० १। ३। ३३) (अ० रा० में जन्म-समयके दर्शन-समयका यह श्लोक है)। दोहा २०० *'सुत सनेह बस'* पर नोट देखिये। (घ) *'यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई'* इति। ऐश्वर्य प्रकट हो जानेसे ब्रह्माका वचन मिथ्या हो जायगा। रावणकी मृत्यु मनुष्यके हाथ है। अतः ऐश्वर्य प्रकट न करना। [पुनः पिताजीसे भी न कहना क्योंकि हमने उनको पुत्रभावमें दृढ़रूपसे टिकने (स्थिर रहने) का वर दिया है, ऐश्वर्य खुलनेसे मेरा वचन झूठा हो जायगा। (हरीदासजी)] *'सुनु माई'* का भाव कि मैंने स्वयं माता मान रखा है तब तू पुत्र माननेमें क्यों डरती है। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—२ (क) *'बार बार कौसल्या बिनय करै कर जोरि'* इति। मायाका स्वरूप देखकर डर गयी हैं, यथा—*'देखी माया सब बिधि गाढ़ी।'* इसीसे विनय करती है कि माया न व्यापे। बारंबार विनय करना अत्यन्त भयका सूचक हैं। माताको ज्ञान हुआ इसीसे उन्होंने अब हाथ जोड़े और 'प्रभु' सम्बोधन किया,—*'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि।'* माताका वात्सल्यभाव शिथिल हो गया पर श्रीरामजीका पुत्रभाव उनके प्रति पुष्ट है। वे उनको माता ही माने हुए हैं। इसीसे *'जननी'* और *'माई'* कहते हैं—*'हरि जननी बहुबिधि समुझाई'* तथा *'कहसि जनि माई।'*

नोट—१ (क) प्रभुने मातासे कहा कि इस अद्भुत दर्शन और प्रसंगकी चर्चा किसीसे न करना, उसपर वे कहती हैं कि मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करती हूँ परंतु आप भी मेरी बात मानें कि आपकी माया मुझे कभी न सतावे। इसमें व्यंग्य यह है कि तुम न मानोगे तो मैं इस बातको प्रकट कर दूँगी, सबसे कह दूँगी कि मेरा बेटा बड़ा मायावी है। (रा० प्र०) (ख) अ० रा० में जन्म-समय माताकी यही प्रार्थना है, यथा—'**आवृणोतु न मां माया तव विश्वविमोहिनी।**' (१। ३। २८) (ग) इसके पश्चात् माताका ज्ञान बराबर बना रहा।

बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा॥ १॥
कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भए परिजन सुखदाई॥ २॥
चूड़ाकरन कीन्ह गुर जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥ ३॥

अर्थ—भगवान्ने बहुत प्रकारके बालचरित किये और दासोंको अत्यन्त आनन्द दिया॥ १॥ कुछ समय बीत जानेपर सब (चारों) भाई बड़े होकर कुटुम्बियोंको सुख देनेवाले हुए॥ २॥ गुरुने जाकर चूड़ाकरण-संस्कार किया। ब्राह्मणोंने फिर बहुत दक्षिणा पायी॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'बहु बिधि कीन्हा'* कथनका भाव कि जितना हमने कहा है इतना ही न समझिये वरंच बहुत तरहके बालचरित किये जो लिखे नहीं जा सकते। दूसरे चरणमें *'अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा'* कहनेसे स्पष्ट हुआ कि ये बहुत विधिके चरित्र दासोंको आनन्द देनेके लिये किये गये थे।

नोट—१ (क) ☞ बालचरितके रसास्वादनके इच्छुकोंको गीतावली और सत्योपाख्यान अवश्य पढ़ने-सुनने चाहिये। कभी रोना-धोना; कभी जँभाना, अलसाना; कभी अनखाना, अनरसे हो जाना; कभी हँसना, खेलना, किलकारी मारना; कभी बंदरको देख डरना; कभी बंदरके बिना रोने लगना; कभी कौएको पूआ दिखाना और कभी उसे पकड़ने दौड़ना; कभी अपना प्रतिबिम्ब खम्भों आदिमें देख नाचने लगना इत्यादि बहुत प्रकारके चरित हैं जो माता-पिता, परिजन आदिके आनन्दके लिये प्रभुने किये। यथा—*'रोवनि धोवनि अनखानि अनरसनि डिठि मुठि निठुर नसाइहौं। हँसनि खेलनि किलकनि आनंदनि भूपति भवन बसाइहौं॥'''रानी राउ सहित सुत परिजन निरखि नयन फल पाइहौं। चारु चरित रघुबंसतिलक के तहँ तुलसी मिलि गाइहौं॥'* (गी० १। १८ में लालसाद्वारा ये चरित बताये गये हैं); *'किलकनि चितवनि भावति मोही॥ रूपरासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥ मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा।''' किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भागि तब पूप देखावहिं॥ आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं। जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं॥'* (७। ७७) (यह निज दास भुशुण्डिजीको तथा घरभरको सुख देनेकी

क्रीड़ा था), *'सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा॥ देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु बचन लिए उर लाई॥'* (७। ८८) इत्यादि। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि अब वर्ष समाप्त हो गया, इसीसे कवि कहते हैं कि (जन्म, छठी, बरही, सूर्यावलोकन, भूम्युपवेशन, दोलारोहण, अन्नप्राशनसे लेकर वर्षगाँठपर्यन्त) बहुत प्रकारके चरित किये। इनके उत्सवोंद्वारा सकल पुरवासियोंको अत्यन्त आनन्द दिया]।

टिप्पणी—२ *'कछुक काल बीते सब भाई।'''* इति। सुखके दिन जल्दी बीत जाते हैं, जान ही नहीं पड़ते; यथा—*'जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति॥'* (७। १५) अतएव *'कछुक'* कहा। 'सब भाई बड़े हुए' यह कहकर जनाया कि सबका चूड़ाकरण-संस्कार एक ही साथ, एक ही दिन करनेको हैं। बालचरित देखकर दासों और परिजनों दोनोंको सुख हुआ, इसीसे दोनोंके नाम लिखे—*'अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा'* और *'भए परिजन सुखदाई।'*

नोट—२ (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'जबतक वर्ष पूरा नहीं होता तबतक मासकी गिनती होती है। वर्ष पूर्ण होनेपर वर्षकी गणना होनी चाहिये। अतः *'कछुक काल'* कहकर जनाया कि दो वर्ष बीत गये, अब तीसरा लगा। *'बड़े भए'* अर्थात् पैरोंसे चलने लगे तब परिजन आदिको सुखदाता हुए। भाव कि जो ही बुलाता उसके पास 'चले जाते' और उसके भावानुकूल उसे सुख देते। (ख) *'परिजन सुखदाई'* में 'लक्षणामूलक गुणीभूत व्यंग' है कि अत्यन्त बाल्यावस्थाका आनन्द केवल रनवासको प्राप्त था। (वीरकवि)

नोट—३ (क) *'चूड़ाकरन कीन्ह गुर जाई'* इति। *'चूड़ाकरण'*—चूड़ा=चोटी, शिखा। जन्मसे तीसरे या पाँचवें वर्ष यह संस्कार होता है जिसमें 'गभुआरे' बाल पहले-पहल मुड़वाये जाते हैं और चोटी रखायी जाती है। हिन्दुओंके १६ संस्कारोंमेंसे यह भी एक संस्कार है। चूड़ाकरण=मुण्डन। (श० सा०) परंतु मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'चक्रवर्ती राजाओंके सिरपर छुरा लगानेकी रीति नहीं पायी जाती, इससे चूड़ा पहिनावनेका अर्थ सम्भवित होता है।' (पांड़ेजी)। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि चक्रवर्ती राजा होनेपर अर्थात् राज्याभिषेक होनेके पश्चात् फिर छुरा सिरपर नहीं छुलाया जाता। यह बात चूड़ाकरण-संस्कारके समयके लिये नहीं है। इस कालमें छुरा लगानेकी रीति न माननेसे षोडश-संस्कारोंमेंसे एक संस्कार ही जाता रहेगा। प्र० स्वामी बताते हैं कि शास्त्रोंमें उपनयन तथा चूड़ाकरण दोनोंमें मुण्डन आवश्यक है। जहाँ प्रायश्चित्तांग क्षौर कहा है वहाँ दुगुना प्रायश्चित्त करनेपर क्षत्रिय राजाओंको क्षौरकी आवश्यकता नहीं है; तथापि चौल, उपनयन, महानाम्न्यादिव्रतचतुष्टय, समावर्तन, ज्योतिष्टोमादि, अध्वरदीक्षा और माता-पितृ-मरणनिमित्त क्षौर मुण्डन राजाओंके लिये भी आवश्यक है; ऐसा धर्मशास्त्र ग्रन्थोंमें कहा है। (ख) *'कीन्ह गुर जाई'* इति। सब कार्योंमें गुरुजी ही प्रधान हैं, यथा—*'गुर बसिष्ठ कहँ गयउ हँकारा॥'* (१९३। ७) *'नामकरन कर अवसर जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी॥'* (१९७। २), *'दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥'* (२०४। ३) वैसे ही यहाँ *'चूड़ाकरन कीन्ह गुर जाई।'* *'जाई'* शब्दसे सूचित होता है कि किसी देवताके स्थानमें मुण्डन होता रहा है, क्योंकि यदि घरमें होता तो *'जाई'* न कहकर *'चूड़ाकरन कीन्ह गुर आई'* ऐसा कहते जैसा कि पूर्व जन्मसमय कहा है—*'आए द्विजन्ह सहित नृपद्वारा।'* (पं० रा० कु०) अथवा, बाललीलाओंमें मग्न होनेसे माता-पिता आदिको चूड़ाकरणके अवसरकी सुध ही न रही, यह देख गुरुजी स्वयं ही राजमहलमें गये। (प० प० प्र०) (ग) *'बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई'* इति। *'पुनि'* के दो भाव होते हैं। एक यह कि जब चूड़ाकरण हो गया तब दक्षिणा दी गयी। पुनि=तत्पश्चात्, तब। दूसरा यह कि चूड़ाकरणमें अब पुनः दक्षिणा पायी। इस कथनसे जनाया कि नामकरण-संस्कारमें भी ब्राह्मणोंको दक्षिणा मिली थी, यद्यपि उसका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया था और अब फिर मिली। (पं० रा० कु०) [अथवा, *'पुनि'* से जनाया कि प्रथम जन्म-समय दक्षिणा पायी थी; यथा—*'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।'* अब पुनः पायी। वा, *'पुनि'* शब्दका कोई अर्थ नहीं है। बुंदेलखण्ड प्रान्तमें बहुत जगह यह शब्द बिना अर्थके ही बोला जाता है। यथा—*'मैं पुनि गएउँ बंधु सँग लागा॥'* (४। ६) *'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।'* (२। ५९)

इत्यादिमें। (प्र० सं०) ग्रन्थकार ब्राह्मण शब्दका प्रयोग बहुत कम करते हैं, विप्र शब्दका ही प्रयोग देखनेमें आता है। '**वेदपाठी भवेद्विप्रः**। अर्थात् तपःस्वाध्यायनिरत ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दी गयीं। वसिष्ठजीने वेदविहीन ब्राह्मणको शोच्य बतलाया है। यथा—'***सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लव लीना॥***' (वि० त्रि०) (घ) यहाँ चूड़ाकरण-संस्कारमें गुरु प्रधान हैं। गुरु बड़े दानी हैं। जैसे जन्म-समयमें राजाने दान दिया वैसे ही यहाँ वसिष्ठजीने दान दिया। (पं० रा० कु०) [यहाँ राजा-रानीका नाम नहीं देनेसे यह भाव सम्भवतः कहा गया है। '***पाई***' शब्दसे औरोंका भी वहाँ होना अनुमान किया जा सकता है। पर प्रधानता गुरुजीकी ही है। इन्हींके द्वारा दी गयी यह हो सकता है]। (ङ) चूड़ाकरण ज्येष्ठशुक्ल दशमी भृगुवार हस्तनक्षत्र कन्यालग्नमें हुआ। (वै०) पर ज्येष्ठपुत्रका चूड़ाकरण और उपनयन-संस्कार ज्येष्ठमासमें तथा जन्ममासमें निषिद्ध है। (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—'***पुनि दछिना बहु पाई***' इति। (क) चूड़ाकरणके पूर्व कर्णवेध-संस्कार होता है, उसकी चर्चा बालकाण्डमें नहीं है पर अयोध्याकाण्डके '***करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥***' इस श्रीमुखवाक्यसे उस संस्कारका होना सिद्ध होता है। कर्णवेधका काल तीन सालतक है। इसके लिये चैत्र, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और ज्येष्ठ विहित हैं। चूड़ाकरणके लिये माघ, फाल्गुन, वैशाख और ज्येष्ठ विहित हैं। पर ज्येष्ठ पुत्रके लिये ज्येष्ठ मास निषिद्ध है। अतः दोनों संस्कार एक ही दिन करनेके लिये फाल्गुन मास ही रह जाता है। इससे निश्चित होता है कि तीसरे वर्षके फाल्गुन मासमें प्रथम कर्णवेध हुआ। उसकी दक्षिणा विप्रोंने पायी। तत्पश्चात् चूड़ाकरण हुआ तब विप्रोंने पुनः दक्षिणा पायी। यह '***पुनि***' से जना दिया।

परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा॥ ४॥
मन क्रम बचन अगोचर जोई। दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई॥ ५॥
भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥ ६॥

शब्दार्थ—अगोचर=जो इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इन्द्रियोंसे जिसका अनुभव नहीं हो सकता।

अर्थ—चारों सुन्दर राजकुमार अगणित परम मनोहर (मनके हरनेवाले सुन्दर) चरित करते फिरते हैं॥ ४॥ मन, कर्म और वचनसे जिनका अनुभव नहीं हो सकता वही प्रभु दशरथजीके आँगनेमें विचर रहे हैं॥ ५॥ भोजन करतेमें जब राजा बुलाते हैं तब बालसखाओंका समाज छोड़कर नहीं आते॥ ६॥

टिप्पणी—१ '***परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत*** ....' इति। जब छोटे थे तब 'जानुपाणि' से विचरते थे, अब बड़े होनेपर पैरोंसे चलते हैं, यह बात '***करत फिरत***' से जनायी। '***परम मनोहर***' से जनाया कि कोई बुरे खेल नहीं खेलते, कोई दुःखदायी चरित्र नहीं करते, वरंच सुखदाता चरित्र करते हैं। इसीसे ग्रन्थकार बारम्बार चरित्रोंकी प्रशंसा करते हैं। यथा—'***बालचरित अति सरल सुहाए***' इत्यादि। ['***परम मनोहर***'=मनको अत्यन्त हरनेवाले। अर्थात् शीलसहित सरल स्वभाव, प्रसन्नमुख, स्मितपूर्वक सबसे भाषण, परस्पर प्रीतिसहित क्रीड़ा; इत्यादि। (वै०)] '***अपार***' का भाव कि लड़कोंके साथ अनेक खेल खेलते हैं। '***चारिउ सुकुमारा***' से जनाया कि चारों भाई सङ्ग रहते हैं।

टिप्पणी—२ (क) '***मन क्रम बचन अगोचर जोई***', यथा—'**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' (तैत्ति० २। ४), '***मन समेत जेहि जान न बानी।***' (३४१। ७) '***बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु***'''।' (२। १३६) प्रथम कहा कि चारों सुकुमार चरित करते-फिरते हैं और अब बताते हैं कि ये चरित कहाँ करते हैं—'***दसरथ अजिर***'। (ख) '***दसरथ अजिर बिचर***' से जनाया कि अभी राजभवनके बाहर नहीं निकलते, अभी छोटे हैं। बाहर जानेका सामर्थ्य अभी नहीं है। ये अपार चरित्र आँगनके ही हैं। पुनः, (ग) '***दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई***' का भाव कि पहिले कौसल्याजीके प्रेमसे 'प्रभु' का प्रकट होना कहा था; यथा—'***सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद।***' अब '***दसरथ अजिर***' कहकर उन्हीं प्रभुका दशरथजीके प्रेमसे प्रकट होना कहते हैं। इस तरह यहाँ राजा और रानी दोनोंका प्रेम पृथक्-पृथक् कहा। कहीं-कहीं एकहीमें

दोनोंका प्रेम कहते हैं, यथा—*'दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत।'* [(घ) *'प्रभु सोई'* अर्थात् जो ऐसा समर्थ स्वामी है कि मन, कर्म और वचनका विषय नहीं हो सकता, इनसे जाना नहीं जा सकता, वही दशरथ-अजिर-विहारी हो रहा है, यह अघटित घटना है। वे समर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं। 'अघटित-घटना-पटीयसी।' (ङ) *'बिचर'* शब्द बड़ा अनूठा है। इसमें चलना, फिरना, क्रीड़ा करना, आनन्द विहार करना सभी भावोंका समावेश हो जाता है।]

टिप्पणी—३ *'भोजन करत बोल जब राजा।'* 'इति। राजा भोजन करानेके लिये बुलाते हैं पर ये बालसमाजको छोड़कर नहीं आते इससे, जनाया कि—(क) श्रीरामजीका बालकोंमें बड़ा प्रेम है, इसीसे उनका संग नहीं छोड़ते। (अपने वर्गमें सबका प्रेम होता ही है। किसी फारसी कविने कहा भी है—*'कुनद हमजिंस बा हमजिंस परवाज। कबूतर बा कबूतर बाज बा बाज॥'* अर्थात् एक वर्गवाले अपने वर्गके साथ उड़ते हैं, कबूतर कबूतरके साथ, बाज बाजके साथ उड़ता है। और अपने यहाँ भी कहा है कि '**स्ववर्गे परमा प्रीतिः।**') ये सब आपके बालसखा हैं, अतएव बहुत प्रिय हैं। (ख) अवधवासियोंके बालक राजमहलमें आकर श्रीरामजीके साथ खेलते हैं। (ग) राजा जहाँ भोजन करने बैठे हैं, उसीके पास आँगनमें सब खेल रहे हैं; इसीसे राजा वहींसे बुला रहे हैं। [(घ) बालकोंके साथ खेलमें मग्न होनेसे भूख-प्यास भूली हुई है, इसीसे समाज छोड़कर नहीं आते। (वै०)]

नोट—अ० रा० १। ३ में मिलानेके श्लोक ये हैं—'**अङ्गणे रिङ्गमाणं तं तर्णकाननु सर्वतः॥ ४६॥ दृष्ट्वा दशरथो राजा कौसल्या मुमुदे तदा। भोक्ष्यमाणो दशरथो राममेहीति चासकृत्॥ ४७॥ आह्वयत्यतिहर्षेण प्रेम्णा नायाति लीलया।**' अर्थात् आँगनमें बछड़ेके पीछे-पीछे सब ओर बालगतिसे दौड़ते देख राजा और कौसल्या अति आनन्दित होते थे। भोजन करनेके समय जब राजा उन्हें 'राम! आओ' ऐसा कहकर अत्यन्त हर्ष और प्रेमसे बारम्बार बुलाते तब खेलमें लगे रहनेके कारण वे न आते थे।

कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥ ७॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥ ८॥
धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहसि गोद बैठाए॥ ९॥

शब्दार्थ—बोलन=बुलाने। 'ठुमुकु'—जल्दी-जल्दी थोड़ी-थोड़ी दूरपर पैर पटकते हुए बच्चोंका चलना; फुदक-फुदककर रह-रहकर कूदते हुए चलना; 'छोटे पद घन पैंगिया, कटि मटकाते, हाथ हिलाते, नूपुर बजाते इत्यादि रीतिसे चलना' ठुमुककर चलना कहलाता है। (बैजनाथजी) **पराई**=भागकर। **धरै**=धर पकड़नेके लिये। **धूसर**=धूर लपेटे हुए; लगी हुई धूलिसे भरे; यथा—*'बाल बिभूषन बसन बर धूरि धूसरित अंग।'* खाकी; मटीली; यथा—'**धूसरस्तु सितः पीतो लेशवान्वकुलच्छविरिति शब्दार्णवे।**' '**ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः।**' (अमरे० १। ५। १३, भानुदीक्षितकृत टीका) अर्थात् किञ्चित् श्वेत और पीत मिला रंग; श्वेत, किञ्चित् पीत और मौलसिरीके पुष्पकी कान्तिमिश्रित रंग।

अर्थ—जब कौसल्याजी बुलाने जातीं तब प्रभु ठुमुक-ठुमुककर भाग चलते हैं॥ ७॥ जिनको वेद नेति-नेति कहते हैं (अर्थात् इनकी इति नहीं है, इतना ही नहीं है) और शिवजीने जिनका अन्त नहीं पाया, माता उन्हींको पकड़नेके लिये हठ करके दौड़ती हैं॥ ८॥ धूल भरे हुए धूसर तनसे वा शरीरभरमें धूल लपेटे हुए आये। राजाने हँसकर गोदमें बिठा लिया॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) *'कौसल्या जब बोलन जाई'* से जनाया कि जहाँ बालकोंके समाजमें श्रीरामजी खेल रहे हैं वहीं माता कौसल्या बुलाने गयीं (और राजा खाने बैठ गये थे इससे उन्होंने वहींसे बुलाया था)। इसीसे वे माताको देखकर भाग चले। (ख) *'ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई'* इति। इससे जनाया कि अभी जल्दी-जल्दी भागने नहीं आता। *'प्रभु'* कहनेका भाव कि जो असम्भवको सम्भव करनेवाले हैं, जो '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**' प्रभु हैं, वे ही भक्तके प्रेमवश समर्थ होते हुए भी यह चरित कर रहे हैं कि भाग नहीं पाते, धीरे-धीरे भागते हैं, मानो भाग ही नहीं सकते।

नोट—१ *'कौसल्या जब बोलन जाई'* इति। ☞इससे जान पड़ता है कि राजाका नियम था कि जबतक वे श्रीरामजीको न खिला लेते तबतक आप नहीं खाते थे। यही कारण है कि जब उनके बुलानेसे नहीं आते तब परम सती कौसल्याजी स्वयं या राजाके कहनेसे उनको बुलाने जाती हैं, जिससे राजा उनको भोजन कराके आप भी भोजन करें। माधुर्य-रसमें भी उपासनाका कैसा निर्वाह किया है!

टिप्पणी—२ *'निगम नेति सिव अंत न पावा।'''* इति। (क) प्रथम जो कहा था कि *'मन क्रम बचन अगोचर जोई'* उसीका यहाँ अर्थ करते हैं कि शिवजीके मनको अगोचर हैं और वेदके वचनको अगोचर हैं। *'सिव अंत न पावा'* कहकर *'नेति'* शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया कि वेद *'नेति'* कहते हैं अर्थात् अन्त नहीं पाते। (ख) *'ताहि धरै जननी हठि धावा'* इति। *'ताहि'* अर्थात् जो शिवके मन और वेदकी वाणीको अगोचर है, उसीको माता तनसे पकड़नेके लिये दौड़ती हैं। [पुनः, *'ताहि धरै'* का भाव कि जबतक वे निकट नहीं पहुँचतीं तबतक ठुमुक-ठुमुक चलते, जब वे पास आ जातीं तब भाग चलते। तब माता हठ करके दौड़तीं कि देखें कहाँतक भागोगे।] (ग) *'जननी'* के साथ *'धाई'* स्त्रीलिङ्ग क्रिया चाहिये थी सो न देकर पुँल्लिङ्ग क्रिया *'धावा'* लिखी। भाव यह कि यहाँ माताका पुरुषार्थ दिखाते हैं कि ईश्वरको पुरुषार्थ करके पकड़ लायीं। जैसा काम किया वैसा शब्द दिया। पुरुषार्थ किया अतएव पुँल्लिङ्ग क्रिया दी।

नोट—२ *'सिव अंत न पावा'* का भाव यह भी है कि 'जिन शिवजीका अन्त ब्रह्मादिने न पाया वे शिवजी भी श्रीरामजीकी महिमाका अन्त न पा सके तब और दूसरा कब पा सकता ? यथा—*'जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥'* (११४। ४) (शिववाक्य है)। शिवजीकी साक्षी इससे दी कि उनका इष्ट यही बालकरूप है, इसी स्वरूपका उन्होंने स्वाभाविक मङ्गलाचरण किया है—*'बंदउँ बालरूप सोइ रामू।'* (११२। ३) *'द्रवौं सो दसरथ अजिर बिहारी।'* (११२। ४) दशरथ अजिर विहारीकी अनन्तताके लिये *'दसरथ अजिर बिहारी'* के ही उपासककी साक्षी तो युक्ति-युक्त ही है।

टिप्पणी—३ *'धूसर धूरि भरे तन आए।'''* इति। (क) वेद और शिव जिनका अन्त न पा सके, उन्हें जननी पकड़ लायीं। इस चरितसे यह दिखाया कि भक्तिसे भगवान् पकड़े मिलते हैं। कौसल्याजी भक्तिरूपा हैं, यथा—*'पंथ जात सोहहिं मतिधीरा। ग्यान भगति जनु धरे सरीरा॥'* (१४३। ४) ज्ञानरूप राजाके बुलानेसे रामजी नहीं आते—*'नहिं आवत तजि बालसमाजा'*; उनको भक्ति महारानी पकड़ लायीं। (ख) [किसीका मत है कि 'मर्कट न्याय' ज्ञानदेशका है। बंदरका बच्चा उचका-उचका फिरता है, अपनी ओरसे माँको पकड़ता है, गिरा तो गया। और भक्तिका मार्जारदेश है, बिल्ली स्वयं अपने बच्चेको पकड़कर चपटा लेती है। ये दोनों देश यहाँ दिखाये हैं।

नोट—३ *'धूसर धूरि भरे तन आए'* का यह भी भाव हो सकता है कि माता दौड़कर पकड़ने चली, पर आप भाग चले, माता न पकड़ पायी, थककर बैठ गयी, तब आप हँसते हुए पास आ गये, माताने पकड़ लिया। यथा—'धावत्यपि न शक्नोति स्प्रष्टुं योगिमनोगतिम्। प्रहसन्स्वयमायाति कर्दमाङ्कितपाणिना॥' (अ० रा० १। ३। ४९) माताने पकड़ लिया यह भाव अ० रा० के '**कौसल्या धावमानापि प्रस्खलन्ती पदे पदे।**' (५६), '**रघुनाथं करे धृत्वा किञ्चिन्नोवाच भामिनी॥**' इस श्लोकमें है। अर्थात् कौशल्याजी दौड़ीं पर पग-पगमें फिसलने लगीं। अन्तमें उन्होंने श्रीरामजीको पकड़ लिया किंतु कहा कुछ नहीं।

नोट—४ *'भूपति बिहँसि गोद बैठाए'* इति। शरीरमें धूल लपेटे हुए हैं, यह देख राजा हँसे। ☞ 'यह हास्यरसका बड़ा ही सुन्दर रूप है। एक अंग्रेजी हास्यरसके मर्मज्ञने ठीक कहा है कि सर्वोत्तम हास्यरस वही है जिसमें हास्यचरित्रके प्रति हमारा प्रेम और बढ़ जावे।' (लमगोड़ाजी) यद्यपि राजा वात्सल्यरसमें मग्न हैं तथापि यहाँ हास्यरस प्रबल हो गया। धूसर तन विभाव, मुखविकास अनुभाव, हर्ष संचारी होनेसे हास्यरस हुआ। (वै०)

दो०—भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥ २०३॥

शब्दार्थ—**चपल**=चंचल। **इत उत**=इधर-उधर। **किलकत**-'किलकनि, किलकारी' भरते वा मारते हुए। किलकारी=गम्भीर और अस्पष्ट स्वर जिसे लोग आनन्द-उत्साहके समय मुँहसे निकालते हैं; हर्षध्वनि; आनन्दसूचक शब्द। **ओदन**=भात, पका हुआ चावल। **दधि**=दही।

अर्थ—(श्रीरामजी गोदमें बैठे) भोजन कर रहे हैं, (परंतु माता उन्हें बालकोंके समाजसे पकड़ लायी हैं, वे समाज छोड़ना न चाहते थे, इसीसे उनका) चित्त चञ्चल है, इधर-उधर मौका पाकर किलकारी मारते हुए मुँहमें दही-भात लपटाये हुए भाग चले॥ २०३॥

नोट—१ *'इत उत'* के अर्थ कई प्रकारसे किये गये हैं। (१) *'चित इत चित उत'*=इधर राजाके दिये हुए ग्रासके खानेमें चित्त. है, उधर बालकोंमें चित्त है; बालकसमाजमें खेलनेके लिये मौका पाकर भाग जानेकी ताकमें हैं। (पं० रा० कु०) इसीसे चित्तको चञ्चल कहा। (२) *'इत उत'* (देखते हैं)' (पं० रा० कु०) अर्थात् चित्त इधर-उधर है कि किधरसे कैसे मौका भागनेका लगे, क्योंकि राजा गोदमें लिये हैं, हाथ लगाये हैं, छूटनेका अवकाश नहीं है। (३) *'अवसरु पाइ इत उत भाजि चले'*=मौका पाकर इधर-उधर भाग चले। वा, (४) *'इत उत'* अर्थात् माता-पिता दोनोंकी ओर देखते हैं कि दोनोंकी दृष्टि बचाकर निकल भागें। ऐसा अवसर जल पीनेके समय प्राय: मिल जाता है। (५) *'इत उत अवसर पाइ'*=इधर (पिता) उधर (माता; दोनोंकी ओरसे मौका पाकर भाग चले)।

टिप्पणी—१ *'अवसरु पाइ'* अर्थात् जैसे ही राजाका बायाँ हाथ, जिससे वे आपको पकड़े हुए थे, अलग हुआ और दाहिना हाथ कौर साननेमें लगा, वैसे ही भागनेका मौका मिल गया। *'किलकत'*—छूटनेसे प्रसन्न हुए, इसीसे किलकारी मारते भागे और इस प्रकार और सखाओंको दूरसे ही आगमन जना दिया। २—यह प्रभुका स्वभाव दिखाते हैं कि वे सबका प्रेम रखते हैं, सबको मान देते हैं। पकड़ लानेमें माताका मान रखा, भोजन किया इस तरह पिताका मान रखा। और बालसखाओंको छोड़कर आना पड़ा था सो इस तरह बिना आचमन किये भागकर पुन: उनके पास जानेसे उनका मान रखा।

नोट—२ *'मुख दधि ओदन लपटाइ'* इति। बालपनमें दही-भातमें रुचि अधिक होती है; अतएव दही-भात लिपटाना कहा। दही-भात खाया है सो इधर-उधर लिपटा हुआ है, बस, वैसे ही बिना मुँह धोये भाग गये। वा, 'महाराजके मुख, दाढ़ी आदिमें लगाकर भागे।' (रा० प्र०) अपने ही मुखमें लपटानेवाली बाललीलासे परिजन, मित्र आदि सभीको हास्यरसास्वाद मनमाना मिलेगा। पिताके मुँहमें लपटानेसे तो केवल घरहीमें हास्यरसकी नदियाँ बहतीं (प० प० प्र०)। दही वा दाल-भात भी मुँहमें लपटाये हुए भागना बालकस्वभाव तो है ही, पर यह भी चरित कृपागुणसे खाली नहीं है। वे यही जूठन आँगनमें भुशुण्डिजीके लिये गिरायेंगे; क्योंकि वे इसके अधिकारी हैं; यथा—*'लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ। जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ।'* (७। ७५)

प० प० प्र०—बालकाण्ड दो० १८८ से अयोध्याकाण्डकी समाप्तितक प्रत्येक दोहेमें ८ चौपाइयाँ (अर्धालियाँ) हैं। यह सामान्य नियम है जहाँ कहीं न्यूनाधिक हैं वहाँ कुछ-न-कुछ हेतु है। गूढ़चन्द्रिकामें ऐसे अपवादभूत स्थानोंमें हेतु स्पष्ट किये गये हैं। इस दोहेमें ९ चौपाइयाँ देकर सूचित किया कि ऐसी नव नवीन बाललीला करते हैं और यह कि अब अवस्था नौ सालकी हुई, उपनयनकाल समीप आ गया। तत्पश्चात् ऐसी लीलाएँ देखनेमें न आयेंगी।

बालचरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए॥ १॥
जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥ २॥

अर्थ—(भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके) बालचरित बहुत ही सरल (भोले-भाले) और सुहावने मनभावने हैं। शारदा, शेष, शङ्करजी और श्रुतियोंने इन चरित्रोंको गाया है॥ १॥ जिनका मन इनमें अनुरक्त नहीं हुआ अर्थात् जिन्होंने श्रीरामजी एवं उनके इन चरित्रोंसे प्रेम नहीं किया, उन लोगोंको ब्रह्माने ठग लिया॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'बालचरित अति सरल'''* इति। यहाँतक कुछ बालचरित गाये। अब बताते हैं कि वे चरित अति सरल और सुहाये हैं। [सरल हैं अर्थात् अटपट नहीं हैं; जैसे स्वाभाविक सीधे बच्चोंके होते हैं वैसे हैं। सीधे-सादे। सुहावने=सुन्दर। (रा० प्र०) वा, *'सरल सुहाए'*=कुटिलता और दोषोंसे रहित। *'अति सरल सुहाए'* का भाव कि बाल्यावस्थामें सभी बच्चोंके चरित सरल और सुहावने होते हैं पर इनके बालचरित *'अति सरल'''* हैं (पंजाबीजी)।] पुनः भाव कि शिशुचरित सरल है और बालचरित अति सरल है। शिशुचरितमें तो ऐश्वर्यप्रदर्शन भी हुआ। माताको विश्वरूपका दर्शन हुआ, परंतु बालचरितमें केवल माधुर्य दिखलाया, इसलिये इसे अति सरल और सुहावना कहा, (वि० त्रि०) शारदादिका प्रमाण देते हैं। (ख) *'सारद सेष संभु श्रुति गाए'* इति। शारदाने शारदारामायणमें, शेषने शेषरामायणमें, शम्भुने अध्यात्मरामायण वा मानसरामायण वा महारामायणमें और वेदोंने वेदरामायणमें विस्तारसे बालचरित्र वर्णन किये हैं। तात्पर्य कि इन्हींके प्रमाणसे हमने बालचरित्र वर्णन किया।

नोट—१ *'बालचरित'* इति। यथा—*'कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं। कबहूँ करताल बजाइके नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं॥ कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं। अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिरमें बिहरैं॥'* (क० १। ४); *'रामलषन इक ओर भरतरिपु-दवनलाल इक ओर भए। सरयुतीर सम सुखद भूमिथल गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये॥ कंदुक केलि कुसल हय चढ़ि चढ़ि मन कसि कसि ठोकि ठोकि खये। कर कमलनि बिचित्र चौगानैं खेलन लगे खेल रिझये॥ २॥'''एक लै बढ़त एक फेरत सब प्रेम प्रमोद बिनोदमए। एक कहत भइ हार रामजूकी एक कहत भइया भरत जए॥ ४॥ प्रभु बकसत गज बाजि बसन मनि जय धुनि गगन निसान हये। पाइ सखा सेवक भरि जनम न दूसर द्वारि गये॥ ५॥ ''''हारे हरष होत हिय भरतहि जिते सकुचि सिर नयन नये। तुलसी सुमिरि सुभाव सील सुकृती तेइ जे एहि रंग रये।'* (गी० ४३), *'बाल बिभूषन बसन बर धूर धूसरित अंग। बालकेलि रघुबर करत बाल बंधु सब संग॥'* (११७), *'राज अजिर राजत रुचिर कोसलपालके बाल। जानु पानि चर चरित बर सगुन सुमंगल माल॥'* (११९) (दोहावली)।

टिप्पणी—२ (क) *'जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता।'''* इति। भाव कि शारदा-शेषादिने इनमें प्रीति की और इनके बालचरित्र गाते हैं, तब तो सभीको इनसे प्रेम करना आवश्यक है, जीवन तभी सफल है जब इनमें मन लगे। (ख) *'ते जन बंचित किए बिधाता'*—भाव कि भगवान्में मन न लगकर संसारके पदार्थोंमें मन लगा तो समझ लो कि ठगे गये। क्योंकि अन्य सब पदार्थ भक्तिके बाधक हैं, यथा—*'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ए सब रामभगतिके बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥'* (४। ७। १६-१७)

नोट—२ **रातना**=अनुरक्त होना, लगना। **बंचित**=ठगा हुआ, छला हुआ, विमुख। रा० प्र० कार कहते हैं कि प्राकृतमें 'बंचित' शब्द व्यर्थका अर्थ भी देता है। *'बंचित किए'*=व्यर्थ ही पैदा किया। *'ते जनु बंचित किए बिधाता'*, यथा—*'नर ते खर सूकर श्वान समान कहो जगमें फल कौन जिये'*, *'जेहि देह सनेह न रावरे सों असि देह धराइ के जाय जियैं।'* (क० ७। ३८) यही विधाताका ठगना है। खर, सूकर और श्वान तीनों अमंगलकर्ता हैं, वैसे ही ये विमुख हैं, केवल पेट भरना जानें। कवितावलीमें कहा है—*'पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि मंजु बनी मनिमाल हिएँ। नव नील कलेवर पीत झँगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिएँ॥ अरबिंदु सो आनन रूप मरंदु अनंदित लोचन भृङ्ग पिएँ। मनमों न बस्यौ अस बालक जौं तुलसी जगमें फलु कौन जिएँ॥'* (क० १। २) ☞मिलान कीजिये—'मानुषं जन्म संप्राप्य रामं न भजते हि यः। वञ्चितः कर्मणा पाप इति जानीहि बुद्धिमान्॥' इति सत्योपाख्याने।

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥ ३॥
गुर गृह गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥ ४॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥ ५॥

अर्थ—ज्यों ही सब भाई कौमार-अवस्थाके हुए त्यों ही गुरु, पिता और माताने उन्हें जनेऊ दिया अर्थात् उनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया॥ ३॥ रघुराई श्रीरामचन्द्रजी (भाइयोंसहित) गुरुजीके घर विद्या पढ़ने गये। थोड़े ही कालमें उनको सब विद्याएँ आ गयीं॥ ४॥ चारों वेद जिसकी स्वाभाविक श्वास हैं वे भगवान् पढ़ें यह बड़ा भारी कौतुक (तमाशा, आश्चर्य) है॥ ५॥

नोट—१ *'भए कुमार'* इति। पुराणों तथा अन्य ग्रन्थोंमें 'कौमार' शब्द भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त देखनेमें आता है। युवावस्थाके पूर्व किसीने एक ही अवस्था मानी है (बाल्य अथवा कौमार), किसीने तीन और किसीने चार (बाल्य, कौमार, पौगण्ड, कैशोर)। स्मृतिके अनुसार मनुष्य-जीवनकी आठ अवस्थाएँ हैं—शिशु, कौमार, पौगण्ड, कैशोर, यौवन, बाल, वृद्ध और वर्षीयान्। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णजीके सम्बन्धमें कुमार और पौगण्ड अवस्थाओंका उल्लेख आया है। यथा—'**एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम्। मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे॥**'(१०। १२। ३७) इसकी टीकामें श्रीधरस्वामीजीने '**कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं तु ततः परम्॥**' यह व्याख्या की है। अर्थात् पाँचके अन्ततक कौमार, दसतक पौगण्ड, पंद्रह वर्षतक कैशोर और उसके आगे युवावस्था है। अ० रा० में मानससे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**अथ कालेन ते सर्वे कौमारं प्रतिपेदिरे। ५९। उपनीता वसिष्ठेन सर्वविद्याविशारदाः। धनुर्वेदे च निरताः सर्वशास्त्रार्थवेदिनः॥ ६०॥ बभूवुर्जगतां नाथा**…' अर्थात् कुछ काल बीतनेपर वे सब भाई कौमार-अवस्थामें प्राप्त हुए। तब वसिष्ठजीने उनका उपनयन-संस्कार किया। सम्पूर्ण जगत्के स्वामी समस्त शास्त्रोंके मर्मके ज्ञाता और धनुर्वेद आदि सम्पूर्ण विद्याओंके पारगामी हो गये। अ० रा० के प्राचीन टीकाकार नागेश भट्टके शिष्य श्रीरामवर्माजीने '**कौमारं प्रतिपेदिरे**' का अर्थ किया है '**कौमारं पञ्चवर्षाधिकत्वम्**' अर्थात् पाँच वर्षसे अधिक अवस्थाके हुए। इन प्रमाणोंके अनुसार *'भए कुमार'* का अर्थ है—'पूर्ण कौमारावस्थाको प्राप्त हुए' अर्थात् पाँच वर्षके हो चुके, छठा लगा।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७। ६ में श्रीप्रह्लादजीके वचन हैं—'**मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः॥ ७॥**' अन्वितार्थ प्रकाशिकामें इनकी टीका इस प्रकार है कि मूढ़ अवस्थामें बाल्यकालमें दस वर्ष बीते और कौमारमें खेलते हुए दस वर्ष बीते। इस तरह ग्यारहवें वर्षसे बीस वर्षतककी अवस्थाको कौमार कहा गया। और तन्त्रमतमें सोलह वर्षकी अवस्थातकको 'कौमार' कहा गया है। इन प्रमाणोंके अनुसार *'भए कुमार'* का अर्थ होगा—'जब कौमार अवस्थामें प्रवेश किया। अर्थात् दस वर्षके हो चुके, ग्यारहवाँ वर्ष लगा।'

यहाँपर उपनयन-संस्कारमें भी ये दोनों अर्थ लग सकते हैं।

यज्ञोपवीत-संस्कार तब होता है जब बालकको विद्या पढ़नेके लिये गुरुके पास भेजा जाता है। इस संस्कारके उपरान्त बालकको स्नातक होनेतक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना पड़ता था और भिक्षावृत्तिसे अपना तथा अपने गुरुका निर्वाह करना पड़ता था। इस संस्कारका ब्राह्मणके लिये प्रायः आठवें, क्षत्रियके लिये ग्यारहवें और वैश्यके लिये बारहवें वर्ष करनेका विधान है। यथा—'**अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भाष्टमे चैकादशवर्षं राजन्यं द्वादशवर्षं वैश्यम्॥ ३॥**' (पारस्कर गृह्यसूत्र द्वितीय काण्ड) छन्दावलीरामायणमें भी ग्यारहवें वर्ष उपवीत होना कहा है; यथा—*'ग्यारह वर्ष के राम भए जब। बोलि गुरु उपवीत दिये तब॥'* बैजनाथजी ग्यारहवें वर्ष वैशाख शु० १० गुरुवार उत्तराफाल्गुनी वृषलग्नमें उपनयनका होना लिखते हैं। उपर्युक्त गृह्यसूत्रके अनुसार ग्यारहवें वर्ष उपनयन हो सकता है।

☞ शास्त्र यह भी कहता है कि यदि बालक बहुत होनहार कुशाग्रबुद्धि हो तो ब्राह्मणका पाँचवें, क्षत्रियका छठे और वैश्यका आठवें वर्षमें उपनयन-संस्कार कर दिया जाय। यथा—'**ब्रह्मवर्चस कामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥**'(मनु० २। ३७) इसके अनुसार कौमारावस्था पूर्ण होते ही छठे वर्ष उपनयन हुआ हो इसमें भी आश्चर्यकी कोई बात नहीं। जिनके लिये *'अलप काल बिद्या सब आई'* कहा है, उनके लिये मनुके इस वाक्यानुसार छठे वर्ष उपवीत-संस्कारका होना ही अधिक उपयुक्त है।

प्र० स्वामी ग्यारहवें वा बारहवें वर्षके पक्षमें हैं और लिखते हैं कि 'छठा वर्ष भी अपवादभूत क्यों न हो मान्य है; पर यह विचारणीय है कि ऐसे प्रियतम बालकोंको छठे वर्ष गुरुगृह भेजनेको दशरथजी और माताके तैयार होनेका सम्भव कहाँतक है। फिर बाललीलाका प्रमोद किस प्रकार मिलता? १९३ (१) में जन्म हुआ, २०४ (३) में उपनयनका उल्लेख है। ११ दोहे बीचमें हैं, यह भी एक काल-संकेत मानना अनुचित नहीं है। इससे मानना पड़ेगा कि उपनयन बारहवें वर्षके फाल्गुनमें हुआ। उस फाल्गुनमें भी कर्कमें गुरुका होना सम्भाव्य है। ग्यारहवें या बारहवेंमें फाल्गुन कृ० ५ या शु० १० को हुआ। शुक्ल दशमीको गुरुचन्द्रयुति रहेगी और कृ० ५ को गुरु-चन्द्र-रवि-त्रिकोणयोग होगा। बैजनाथजीने वैशाखमें लिखा है। वैशाखमें तो रवि वृषभमें होता है और उन्होंने कोई आधार भी नहीं दिया है। वैशाखमें तो १२ वाँ गुरु निषिद्ध है। हाँ, ग्यारहवें वर्षके फाल्गुनमें मीनराशिमें रवि और कर्कराशिमें गुरुका होना सम्भाव्य है। मीनका रवि और कर्कका गुरु यह नव-पञ्चम त्रिकोणयोग और धनु-वृश्चिकका चन्द्र उत्तमोत्तम त्रिकोणयोग होता है। कृ० ५ का दिन होगा।'

टिप्पणी—१ (क) *'सब भ्राता'* कहकर जनाया कि सब भाइयोंका 'व्रतबन्ध' (यज्ञोपवीतसंस्कार) एक साथ हुआ; यथा—*'करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥'* (२। १०) [(ख) *'दीन्ह जनेऊ'*—जनेऊ हाथमें पकड़कर पहनाते हैं, अतएव *'दीन्ह'* कहा।] (ग) *'गुरु पितु माता'* इति। यज्ञोपवीत-संस्कारमें यही क्रम है। प्रथम गुरुजी आते हैं (संस्कार करानेमें ये अग्रगण्य हैं), तब पिता संकल्प करते हैं, तत्पश्चात् माता भिक्षा देती है। (घ) *'गुरु गृह गए पढ़न रघुराई'* इति। [उपनयन होनेपर ही मनुष्य द्विजातीय कहलाता है और तभी वेदादिके पढ़ने तथा कर्मकाण्ड (संध्या आदि) में प्रवृत्त होनेका अधिकार प्राप्त होता है। उपनयन होनेपर विद्या पढ़नी चाहिये; इसीसे उपनयन कहकर विद्याध्ययन करनेको गये, यह कहा।] *'गए'* पदसे जनाया कि श्रीरामजी गुरुजीके आश्रममें जाकर रहे। यही प्राचीन कालकी विद्याध्ययनकी रीति है कि जबतक विद्या पढ़े तबतक गुरुके स्थानमें रहे, गुरुकी शुश्रूषा करे और विद्या पढ़े। (ङ) *'अलप काल'* अर्थात् आठ दिनमें। (पं०)

नोट—२ (क) *'सब बिद्या'* इति। अर्थात् चौदहों विद्याएँ। विशेष दोहा ९। ८ मा० पी० भाग १ देखिये। मुण्डकोपनिषद्‌में कहा है कि मनुष्यके जाननेयोग्य दो विद्याएँ हैं—एक परा, दूसरी अपरा। उनमेंसे (जिसके द्वारा लोक और परलोकसम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्तिके साधनोंका ज्ञान होता है वे) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, शिक्षा (जिसमें वेदोंके पाठकी विधिका उपदेश है), कल्प (जिसमें यज्ञादिके विधिका वर्णन है), व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दोंका कोष), छन्द (वैदिक छन्दोंकी जाति और भेदका जिससे ज्ञान होता है) और ज्योतिष, इन दसका नाम 'अपरा' है। और जिसके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान होता है वह 'परा' विद्या है। (यह भी वेदोंमें ही है। इस अंशको छोड़कर शेष सब 'अपरा' विद्या है।) यथा—**'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥ ४॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥' ५॥** (प्रथम मुण्डक प्रथम खण्ड)।—इसके अनुसार *'सब बिद्या'* से परा और अपरा दोनों विद्याएँ अभिप्रेत हैं। (मा० त० वि०) (ख)—*'सब बिद्या'* का अर्थ श्रीरामजीके सम्बन्धमें क्या है यह भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है, '**गीर्वाणवाणीनिपुणो रामस्तैः प्रणतां सदा। रामस्सरस्वती जिह्वो ब्रह्मोक्तोऽमरपूजितः॥ दैत्यदानवनागानां भाषाभिज्ञो रघूद्वहः। भूतप्रेतपिशाचानां भाषाविद्राघवः प्रभुः॥ अन्योन्यदेशभाषाभिस्तत्रैव व्यवहारकः। सर्वत्र चतुरो रामः फारसीमपि पेठिवान्॥ काशानां भाषया रामः कीशेषु व्यपदेशिकः। ऋक्षराक्षसपक्षिषु तेषां गीर्भिस्तथैव सः॥ यावन्तः कारवो लोके ये च विद्योपजीविनः। तेषामाचार्यतां प्राप्तो रामो दाशरथिर्गुणैः॥**' इत्यादि। (वै०) अर्थात् देववाणी (संस्कृत) में निपुण, वेद जिनको कण्ठस्थ हैं और सरस्वती (अर्थात् समस्त शास्त्र-पुराणादि) जिनकी जिह्वापर हैं, दैत्यों, दानवों, नागों, भूत-प्रेत-पिशाचों तथा अन्य-अन्य देशोंकी भाषाओं और व्यवहारोंके ज्ञाता, फारसी, काशों और कीशों तथा रीछ, राक्षस, पक्षी आदिकी भाषाके पण्डित, जितने लोग चित्रकारी, तन्तुकारी, शिल्पकारी आदि कलाओंके ज्ञाता और उसीसे निर्वाह करनेवाले हैं, अपने गुणोंसे उनके आचार्यताको प्राप्त थे।

नोट—३ अल्पकालमें सब विद्या कैसे आ गयी? इसका समाधान आगे करते हैं—'*जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।*' वेदादि ब्रह्मके निःश्वास हैं ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् द्वितीय अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवादमें बताया गया है। यथा—'**स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि॥**'(१०) अर्थात् जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धुआँ निकलता है, हे मैत्रेयि! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे सब परमात्माके ही निःश्वास हैं॥ १०॥

वेद अपौरुषेय हैं, यह समस्त ऋषियों और आचार्योंका निर्णय है। 'श्वास' कहनेसे तो वे 'पौरुषेय' हो जायँगे? इसका समाधान यह है कि प्रभुका शरीर सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः श्वास भी सच्चिदानन्द है। श्वास और जिसका श्वास दोनों एक ही हुए।

टिप्पणी—२ '*सहज स्वास*''' इति। लङ्काकाण्डमें मंदोदरीने रावणसे श्रीरघुवंशमणिका विश्वरूप कहा है। वहाँ '*मारुत स्वास निगम निज बानी*' कहा है और यहाँ '*जाकी सहज स्वास श्रुति चारी*' कहते हैं। दोनों बातें ठीक हैं। ईश्वरमें अज्ञान तीनों कालमें नहीं है (उसका अखण्डैकरस ज्ञान सर्वकालोंमें है, उनका श्वास भी सच्चिदानन्दरूप है कि जो चारों वेदोंके रूपमें है)। ईश्वर अज्ञानी बनकर पढ़ता है, यह कैसा? उसीपर कहते हैं यह '*भारी कौतुक*' है, बड़ा भारी नरनाट्य है। '*भारी*' से जनाया कि उनकी सभी लीलाएँ 'कौतुक' हैं, पर अखण्ड ज्ञान होते हुए अज्ञानी बनना यह सबसे '*भारी कौतुक*' है।

नोट—४ '*कौतुक*' शब्दसे वही बात हास्यरसरूपसे जनायी है कि जो वाल्मीकिजीने कही है—'*जस काछिय तस चाहिय नाचा।*' (लमगोड़ाजी)

बिद्या बिनय निपुन गुन सीला। खेलहिं खेल सकल नृपलीला॥ ६॥
करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥ ७॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरैं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई॥ ८॥

अर्थ—विद्या, नम्रता, गुण और शीलमें निपुण (पूर्ण) हैं। वे नृपलीलाके अर्थात् राज्यसम्बन्धी सब खेल खेला करते हैं॥ ६॥ हाथोंमें धनुष-बाण बड़ी शोभा दे रहे हैं। रूप देखते ही चर-अचर (सभी जीव) मोहित हो जाते हैं॥ ७॥ जिन गलियों, मार्गोंमें सब भाई विहार करते निकलते हैं, वहाँके सभी स्त्री-पुरुष ठिठककर देखते रह जाते, स्नेहसे शिथिल हो जाते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '*बिद्या बिनय निपुन गुन सीला*' इति। विद्याकी शोभा विनयसे है, इसीसे इन दोनोंको एक साथ रखा; यथा—'**विद्याविनयसंपन्ने।**' [विद्या पाकर भी किञ्चित् अभिमान नहीं है वरंच विशेष नम्रता है। विद्या पाकर विनम्रता न हुई तो विद्या व्यर्थ है; यथा—'*जथा नवहिं बुध बिद्या पाए।*' (४। १४) '*पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ।*' (३। ४०) गुण और शीलमें निपुण, यथा—'*सीलसिंधु सुनि गुर आगमनू।*''*चले सबेग राम तेहि काला।*' (२। २४३). '*तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान।*' (१। २९) '*बिनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥*' (२८५। ३) वाल्मीकिजीने जो लिखा है कि 'वे ज्ञानसम्पन्न हुए, गुणोंसे युक्त हुए, लोकापवादसे डरनेवाले, मर्यादाका पालन करनेवाले, सब विषयोंकी जानकारी रखनेवाले और भूत, भविष्यके जानकार हुए', यथा—'**ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः। ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः॥**' (१। १८। ३३) ये सब भाव '*बिद्या बिनय*''' में आ जाते हैं।] (ख) '*खेलहिं खेल सकल नृपलीला*' इति। अर्थात् सेनाका व्यूह बनाते हैं, सेनापति नियुक्त करते हैं, सेना खड़ी करके कवायद कराते हैं। बालसखाओंकी सेना बनाते हैं और आप राजा बनते हैं। सबका न्याय करते हैं, राजसभा करते हैं, बालसखाओंमेंसे मन्त्री आदि बनाते हैं। इत्यादि सब नृपलीलाके खेल हैं। [कवि आगे स्वयं लिखते हैं कि क्या नृपलीलाके खेल खेलते

हैं। 'विद्या, विनय आदि आचरण तो शान्तरसके हैं तब नीतिरसकी वीरता कैसे होगी जो राजकुमारोंमें होना आवश्यक है?' इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि *'खेलहिं खेल सकल नृपलीला।'* (वै०)] (ग) ☞ऊपर जो कहा था कि *'अलप काल सब बिद्या आई'* वह अल्पकाल यहाँ दिखाते हैं कि सब विद्या पढ़ चुके फिर भी खेलनेकी अवस्था बनी ही रह गयी। इतनी जल्दी सब पढ़ लिया।

टिप्पणी—२ [श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि 'किसीने खूब कहा है कि 'अदनासे झुके तो सबसे आलाजह है।' अर्थात् छोटेके साथ भी नम्र व्यवहार करे तो बड़प्पन है। टैगोरजीने गीताञ्जलिमें ठीक लिखा है कि 'तेरा प्रणाम भगवान्‌तक नहीं पहुँचता, कारण कि तू अपने मस्तकको भगवान्‌के चरणोंपर नहीं नवाता, जो चरण वहाँ हैं जहाँ सबसे गरीब, सबसे दीन और सबसे गये-बीते लोग हैं।']

टिप्पणी—३ *'करतल बान धनुष अति सोहा'* इति। *'अति सोहा'* का भाव कि धनुष-बाण तो स्वयं ही शोभित हैं, पर करतलके सम्बन्धसे वे *'अति'* शोभित हुए, उनकी शोभा बहुत बढ़ गयी। ***'सोहा'*** क्रिया एकवचन है और धनुष-बाण दो हैं ***'सोहे'*** कहना चाहिये था सो न कहकर ***'सोहा'*** कैसे कहा? उत्तर यह है कि एक करतलमें बाण शोभित है, दूसरेमें धनुष शोभित है—यह दिखानेके विचारसे एक-वचन क्रिया दी। *'अति सोहा'* का स्वरूप दूसरे चरणमें दिखाते हैं कि इतना शोभित है कि रूप देखकर चराचर मोहित हो जाता है।

नोट—१ *'देखत रूप चराचर मोहा'* इति। रूपका एक लक्षण हम पूर्व दोहा १९८ (६-७) में लिख आये कि बिना भूषणादि शृङ्गारके भी जो भूषितवत् जान पड़े उसे रूप कहते हैं। सौन्दर्यका लक्षण यह है कि क्षण-क्षणपर उनका सौन्दर्य नवीन ही मालूम होता था; तथा—'**क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।**' (शिशुपालवध ४। १७) यही रमणीयता श्रीरामजीके रूपमें थी। जब भगवान् श्रीराम दण्डकारण्यमें वनवासी वेषमें गये थे, तब वहाँके लाखों वर्षके तपस्वी ऋषियोंके मन, उनके सौन्दर्यको देखकर ऐसे आसक्त हो गये कि उन्होंने यह भावना की कि हम स्त्रियाँ होतीं और ये हमारे पति; उसीकी पूर्ति भगवान्‌ने कृष्णावतारमें की। अर्थात् वे सब स्त्रियाँ हुईं और रासक्रीड़ाके सम्बन्धसे उनकी इच्छाकी पूर्ति की गयी। यह बात निम्न श्लोकसे सिद्ध होती है।—'**पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम्॥ ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूतास्तु गोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो भुक्ता भवार्णवात्॥**' (पद्मपु० उ० २४५। १६४-१६५)

स्त्रियोंका पुरुषके सौन्दर्यपर आसक्त होना तो सर्वत्र सुना जाता है; परंतु पुरुषोंका और वह भी विषयरसरूखे लाखों वर्षके बूढ़े ऋषियोंका पुरुषपर इस भावसे आसक्त होना कल्पनातीत है, प्रकृतिके प्रतिकूल है, इससे श्रीरामका सौन्दर्य कैसा होगा इसका अनुमान पाठक स्वयं कर लें। ऐसा सौन्दर्य किसी और अवतारमें सुननेमें नहीं आता। अतः *'देखत रूप चराचर मोहा'* कहा।

नोट—२ (क) *'थकित होहिं सब लोग लुगाई'* अर्थात् सब स्त्री-पुरुष घरसे निकलकर खड़े हो जाते हैं, भीड़ लग जाती है। थकित होते हैं; यथा—*'थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी मृग देखि दियासे॥'* थकित होनेका कारण प्रथम लिख आये कि *'देखत रूप चराचर मोहा'* और इस अर्धालीमें मोहित हो जानेवालोंकी दशा लिखते हैं कि रूप देखकर थक जाते हैं, देहसुध नहीं रह जाती। 'पुनः, *'थकित होहिं'* अर्थात् मोहित होकर अचल हो जाते हैं, टकटकी लगाये मुग्ध देखते रह जाते हैं, अङ्ग शिथिल पड़ जाते हैं। यथा—*'थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषें॥ अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥'* (२३२। ५-६) *'देखि तुलसीदास प्रभु छबि रहे सब पल रोकि। थकित निकर चकोर मानहु सरद इंदु बिलोकि॥'* (गी० १। ३८) *'सुभग सकल अंग अनुज बालक संग देखे नर-नारि रहैं ज्यों कुरंग दियरे।'* (गी० १। ४१) इत्यादि। (ख) गलियोंमें विचरें तो दशरथनन्दन और थकें देखनेवाले। कारण कहीं, कार्य कहीं। इसका क्या कारण है, यह आगे दोहेमें कहते हैं कि ये सबको प्राणोंसे भी प्रिय हैं, इन्हें देखकर शिथिल हो जाते हैं, मानो अपने प्राण इनपर निछावर कर दिये हैं। यहाँ 'प्रथम असंगति अलङ्कार' है।

नोट—३ *'करतल बान''जिन्ह बीथिन्ह'*, यथा कवित्तरामायणमें—*'पदकंजनि मंजु बनीं पनहीं धनुहीं सर पंकज-पानि लिएँ। लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजूतट चौहट हाट हिएँ॥''।'* (१। ६) *'चौहट हाट हिये'* यही *'बीथिन्ह'* का भाव है। पुनः, यथा पद्मपुराणमें **'वीथिं वीथिं जगामाथ क्रीडार्थं रघुसत्तमः। अजडाश्च जडाश्चैव सप्राणा इव तेऽभवन्॥'** (पं० रा० कु०) पुनः भाव कि मुण्डकोपनिषद् (२। २। ४) में ब्रह्मके वाचक प्रणवको धनुष और जीवात्माको बाण कहा गया है, यथा **'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म'''** इसीसे ये मुक्तिदाता हैं और अति शोभित हैं (मा० त० वि०)।

दोहा—कोसल पुरबासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥ २०४॥

अर्थ—अवधपुरवासी स्त्री-पुरुष बुड्ढेसे लेकर बच्चेतक सभीको दयालु श्रीरामचन्द्रजी प्राणोंसे भी अधिक प्रिय लगते हैं॥ २०४॥

टिप्पणी—१ पूर्णावस्थावाले वृद्धोंको कहकर फिर बालकोंको कहा। इस प्रकार आदि-अन्तके ग्रहणसे मध्यका ग्रहण हो गया। अर्थात् बीचकी युवा, कौमारादि अवस्थावालोंको भी इतनेहीसे जना दिया। २—*'प्रानहुँ ते प्रिय लागत।'* भाव कि प्राण बहुत प्रिय है, यथा *'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।'*, उससे भी अधिक ये प्रिय हैं। ३—*'राम कृपाल'* का भाव कि सबपर कृपा करके गली-गलीमें विचरते हैं, जिसमें सबको दर्शन हो जाय। यथा *'जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥'* (२०५। ५) सब लोगोंको सुखी करते हैं इसीसे *'कृपानिधि'* कहा। अयोध्यावासी श्रीरामजीकी कृपाको खूब समझते हैं, वे भली प्रकार जानते हैं कि हमपर कृपा करके हमको दर्शन देनेके लिये ही गलियोंमें विचरते हैं (बैजनाथजी लिखते हैं कि *'प्रानहु ते प्रिय लागत'* का भाव यह है कि ये सब श्रीरामस्नेहको ब्रह्मज्ञानसे अधिक मानते हैं। इससे पुरवासियोंको नित्य परिकर जनाया, नहीं तो सबकी एक रीति न होती)।

वि० त्रि०—*'बिद्या बिनय निपुन'* कहकर तब निपुणता भी दिखाते हैं। *'खेलहिं खेल सकल नृप लीला'* से नाट्यशास्त्रकी निपुणता कही। शिवि, हरिश्चन्द्र आदिकी लीलाओंका नाट्य करते हैं। *'करतल बान धनुष अति सोहा'* से धनुर्वेदमें अत्यन्त परायण कहा। विद्या प्रेमके कारण विहारमें भी धनुष-बाण नहीं छूटता। *'प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल'* से शासनकी योग्यता दिखलायी।

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥ १॥
पावन मृग मारहिं जियँ जानी। दिन प्रति नृपहिं देखावहिं आनी॥ २॥
जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥ ३॥

अर्थ—भाइयों और सखाओंको बुलाकर साथ ले लेते हैं और प्रतिदिन वनमें शिकार खेलने जाते हैं॥ १॥ जी-से जानकर पवित्र मृगोंको मारते हैं और प्रत्येक दिन लाकर राजाको दिखाते हैं॥ २॥ जो 'मृग' श्रीरामजीके बाणसे मारे गये वे अपना मृगतन छोड़ देवलोकको चले गये॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम श्रीरामजी श्रीकौसल्याजीकी गोदमें रहे—*'सो अज प्रेमभगति बस कौसल्या कें गोद।'* फिर 'जानुपाणिसे' विचरने लगे। उसके बाद पैरों चलने लगे—*'ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई।'* पहले दशरथ-अजिरमें खेलते रहे, फिर बाहर खेलने लगे थे—*'जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई।'* और अब *'बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई।'''* (ख) प्रथम बन्धुको कहकर सखाको कहा। इससे बुलानेका क्रम बताया कि प्रथम भाइयोंको बुलाते हैं, तब सखाओंको। (ग) *'सँग लेहिं'* कहकर शिकारमें श्रीरामजीकी प्रधानता कही। पूर्व कहा था कि नृपलीला खेल खेलते हैं। वनमृगया भी नृप-लीला है और राजधर्म भी है, इसीसे वनमें शिकार खेलते हैं। [*'खेलहिं खेल सकल नृपलीला'* का यहाँ भी निर्वाह है। स्वामी हैं, सबसे बड़े हैं, इसीसे सबसे पहले शिकारके लिये तैयार हो गये। राजाको फुर्ती चाहिये ही। कवितावलीमें मृगयाका अच्छा वर्णन है; यथा, *'सरयू बर तीरहि तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबै।'* गोमतीतटपर

वनमें शिकारको जाते हैं। (घ) श्रीरामजीके सखाओंके नाम ये हैं—प्रतापी, शत्रुनाश, प्रतापाग्र्य, युधिष्ठिर, सुकर्मा, सुष्ठुरूप, जय, विजय, सुकंठ, दीर्घबाहु, (चंदचारु) चारुचंद्र, भानु (चंद्रभानु), रिपुवार, अरिजित्, शील, सुशील, गजगामी, सबलाश्व, हरिदश्व, नीलरत्न, वीरभद्र, भद्राश्व, जयंत, सुबाहु इत्यादि। विशेष चौ० ४ में देखिये। ये सब शिकारमें साथ जाया करते थे]। (ङ) ***'नित खेलहिं जाईं'*** क्योंकि अभी लड़के हैं। लड़कोंका मन खेलमें बहुत लगता है। 'मृगया' खेल है, इसीसे नित्य खेलते हैं। वनमें जाकर शिकार खेलते हैं, इस कथनसे जनाया कि श्रीअयोध्याजीके बाहर समीपमें जो वन और उपवन हैं उनमेंके मृग नहीं मारते; वे मृग केवल दर्शनार्थ हैं। बाहरके वनोंमें जाकर शिकार करते हैं।

नोट—१ ***'पावन मृग मारहिं जिय जानी।'''*** इति। पं० रामकुमारजीका मत है कि जिनको सुकृती समझते हैं, जिनको जानते हैं कि इन्होंने पूर्वजन्ममें सुकृत किये हैं, स्वर्ग जानेके योग्य हैं, उनको मारकर स्वर्ग पहुँचा देते हैं, जैसा आगे वक्ता स्वयं कहते हैं—***'ते तनु तजि सुरलोक सिधारे।'*** जो वध करने योग्य नहीं हैं उन्हें नहीं मारते।' और अर्थ ये कहे जाते हैं—'पावन' अर्थात् कृष्णसार, कस्तूरीवाले मृग, काले मृग। इनके घुटने नहीं होते, इनका बैठना असम्भव-सा है, बैठनेमें इनको बहुत दुःख होता है। (वै०, रा० प्र०) अथवा, जो ऋषिशापसे मृगयोनिमें आ गये हैं, जिनका उद्धार आवश्यक है। सत्योपाख्यानमें ऐसे अनेक मृगोंकी चर्चा आयी है (वै०)।

'मृग' शब्द सभी पशुओंकी संज्ञा है। इसी ग्रन्थमें 'मृग' शब्द सूकरके लिये भी प्रयुक्त हुआ है; यथा ***'चलेउ बराह मरुतगति भाजी॥ १॥''प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा॥''''' तदपि न मृग मग तजइ नरेसू॥ १॥*** (१५७। ६) यहाँपर भी 'मृग' शब्द सिंह, हाथी, मगर, भैंसा आदि सभी हिंसक जीवोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि सत्योपाख्यान अ० ४१ से स्पष्ट और सिद्ध है। अ० ४१ में विल्व नामक गन्धर्वका शापसे अरना भैंसा होना लिखा है जिसे रघुनाथजीने मारा। पुनः अध्याय ४६ में शूकर, सिंह आदिके शिकारके कई प्रमाण हैं। एक सिंह, एक हाथी और एक मगर, इत्यादिके शरीर मरनेपर दिव्य हो गये थे। विस्तृत कथाएँ सत्योपाख्यानमें हैं, पाठक वहाँ पढ़ सकते हैं।

श्रीनंगे परमहंसजीका भी यही मत है, हमारे मतसे कुछ ही अन्तर है। वे लिखते हैं कि 'चित्रकूटके किरातोंका यह कहना कि ***'बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥ तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निर्झर भल ठाउँ देखाउब॥'*** (२। १३६) स्पष्ट इस बातका प्रमाण है कि सिंह, गैंडा आदिका ही शिकार होता था, क्योंकि वनके बेहड़ थलोंमें तथा पर्वतकी कन्दराओं-खोहोंमें सिंह आदि ही हिंसक भयानक मृग रहते हैं, कुछ हिरनों या भेड़-बकरियोंके लिये ***'कंदर खोहा'*** नहीं कहा गया है।' वे यह लिखते हैं कि 'शिकारके प्रसङ्गमें मृगका अर्थ हिरन नहीं हो सकता है।' दासकी समझमें यहाँ केवल वनका उल्लेख है, पर्वत-कंदरा आदिका नहीं। वनमें हिरन भी झुण्ड-के-झुण्ड रहते हैं और इनका शिकार भी किया ही जाता है। मृगमें सिंह, मगर, हाथी, गैंडा, अरना भैंसा आदि तो हैं ही पर साथ-ही-साथ हिरन भी आ जाते हैं। मृगयाके समय सत्योपाख्यानमें मृगयूथोंका सामने आना और उनपर लक्ष्य करना पाया जाता है। इस मृगयूथमें कृष्णसार और मृगीका बच्चोंके साथ होना भी लिखा है। कृष्णसार हिरन होते हैं। अतः उस झुंडमें सब हिरन-ही-हिरनका होना सिद्ध होता है।—इससे भी सिद्ध होता है कि 'मृग' से 'हिरन' अर्थ भी लिया जा सकता है। इसी प्रसङ्गमें गुहने कहा है कि मृगयूथको मारनेमें क्या वीरताका लाभ होगा, हम लोग सिंह और गजादिका शिकार करें। यथा '**मृगयूथवधेनैव ह्यस्माकं किं भविष्यति। सिंहानां च गजानां च मृगया क्रीयतां वने॥**' (सत्यो० ४६। १४)

पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि इस चौपाईमें ***'पावन'*** और ***'जिय जानी'*** ये दो शब्द बड़े विलक्षण पड़े हैं जो कविके हृदयके अगाध आशयको सूचित कर रहे हैं। चौपाईका अर्थ है—'श्रीरामजी जिन मृगोंको अपने जियमें जानते हैं कि ये पावन हैं उन्हींको मारते हैं। अथवा, जिन मृगोंके जिय (जीवात्मा) को पावन (शुद्धस्वरूप) मोक्षाधिकारी जानते हैं उनको मारते हैं।' ये मारे जानेपर मृगशरीर छोड़कर सुरलोकको प्राप्त

हो जाते हैं। यहाँ अभिप्राय यह है कि 'बद्ध आत्माको स्थूल शरीरसे पृथक् कर मुक्तस्वरूपमें करनेको हिंसा नहीं कहते, अनेक जन्मोंसे संसारवेदनाओंको भोग करनेवाले जीव श्रीरामजीके करतीर्थसे स्थूल देहका नाता त्यागें तो यह बड़े सुकृतका परिणाम है। देखिये, मारीचने क्या सोचा था? यही न कि रावणके हाथसे मरनेसे भवबन्धन न छूटेगा, इससे श्रीरामजीके ही हाथोंसे क्यों न मरकर मुक्त हो जाऊँ।—*'उभय भाँति देखेसि निज मरना। तब ताकेसि रघुनायक सरना॥'* इससे यहाँ क्षत्रियका सामान्य धर्म पालनकर विशेष धर्म (अहिंसा) का भी निर्वाह किया है। और श्रीरामजीका अवतार सामान्य मृगोंके मारनेके लिये नहीं है, किंतु धर्मबाधक खलरूप मृगोंके मारनेके अर्थ है; यथा—*'हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं॥'* (३। १९) कोई-कोई कहते हैं कि महारामायणसे पता चलता है कि रावणने राक्षसोंको मृगरूपसे भेजे थे, जैसे कंसके भेजे दैत्य अनेक रूपोंमें भगवान् श्रीकृष्णजीके पास आये थे। इसीसे *'जिय जानी'* पद दिया। अर्थात् वे जान लेते थे कि ये राक्षस हैं, अब इनका 'पूर्वज' सुकृत इन्हें हमारे पास लाया है; अतः पावन हैं। उक्त कथनका भाव यह है कि सदय हृदयसे आत्माके सुधारके अर्थ जो निग्रह किया जाता है वह निग्रह नहीं किंतु अनुग्रह है। और, जो निर्दय हृदयसे आत्माके दुःखार्थ निग्रह है वही निग्रह हिंसा है। [☞ *'पावन मृग जिय जानी'* कहकर जना दिया है कि जो ऐसे समर्थ, त्रिकालज्ञ और सदय हृदय नहीं हैं, किन्तु जो अपनी उदरपूर्ति मांस-भक्षण अथवा क्रीड़ाके विचारसे जीवोंका वध करते-कराते हैं वे क्षम्य नहीं, वे महापापके भागी हो नरकमें पड़ेंगे।]

श्रीत्रिपाठीजी *'पावन मृग'* से मेध्य पशु अर्थ करते हैं 'जिनके चर्म-शृङ्गादिका धर्मकार्यमें प्रयोजन पड़ता है। व्याघ्रादि दुष्ट जन्तुओंका चर्म पवित्र माना गया है। अतः मनसे यह निश्चय करके कि यह दुष्ट जन्तु है तब उसका वध करते थे।'

नोट—२ मिलान कीजिये—**'अश्वारूढो वनं याति मृगयायै सलक्ष्मणः। हत्वा दुष्टमृगान्सर्वान्पित्रे सर्वं न्यवेदयत्॥'** (अ० रा० १। ३। ६३) अर्थात् भगवान् राम नित्यप्रति श्रीलक्ष्मणसहित धनुष, बाण और तरकश धारण कर घोड़ेपर सवार हो मृगयाके लिये वनको जाते और वहाँ हिंसक पशुओंको मारकर उन सबोंको पिताजीके अर्पण कर देते थे।

नोट—३ *'दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी'* इति। (क) पूर्व कहा था कि *'बन मृगया नित खेलहिं जाई'* इसीसे यहाँ *'दिन प्रति'* शिकार लाकर दिखाना कहा। इससे जनाया कि नित्य शिकार खेलने जाते थे, किसी दिन भी शिकार खाली न जाता था और यह कि वन इतनी दूर था कि नित्य वहाँसे लौटकर आ जाते थे। (ख) *'नृपहिं देखावहिं'* इसलिये कि राजाको मालूम हो जाय कि अब बाणका लक्ष्य ठीक होने लगा है, क्योंकि आगे विश्वामित्रजीके साथ बनको जाना है। अतः हस्तलाघवता दिखानेका प्रयोजन है। राजा देखकर बहुत प्रसन्न भी होंगे। प्र० स्वामीका मत है कि दिखानेमें हेतु यह है कि शास्त्रविरुद्ध तथा कानून-विरुद्ध शिकार नहीं खेलते यह पिताजी देख लें।

श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि किसी फारसी कविने खूब कहा है—*'हमा आहुवाने सहरा सरे खुद निहादा बर कफ, ब उमीद आँ कि रोजें ब-शिकार ख्वाही आमद।'* अर्थात् जंगलके सब हिरन अपना सिर हथेलीपर लिये इस उमीदपर हैं कि किसी दिन तू शिकारको आवेगा।—धन्य है यह इश्क (प्रेम) की कुर्बानी (बलिदान)!!

नोट—४ *'जे मृग रामबान के मारे।'''* इति। (क) *'रामबान के मारे'* कहनेका भाव कि और वीरोंके हाथ मरनेसे स्वर्ग होता है, पर तत्क्षण नहीं और श्रीरामजीके बाणोंसे मृत्यु होनेसे तुरत दिव्यरूप हो स्वर्गको प्राप्त हो जाते हैं। 'सिधारे' शब्द भी यह बात जना रहा है। यथा *'तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा॥'* (पं० रा० कु०) (ख) यहाँ *'सुरलोक'* शब्द दिया गया, क्योंकि एक तो विशेषकर गन्धर्वादि शापसे 'मृग' हुए थे, वे बाणसे मारे जानेपर अपना पूर्व दिव्यरूप पाकर अपने-अपने लोकको गये। उनका शापोद्धार हो गया, जहाँ वे जाना चाहते थे वहीं भेज दिये गये। दूसरे जो विशेष सुकृती थे वे हरिपद साकेतको प्राप्त हुए। इसका पर्याप्त प्रमाण सत्योपाख्यानमें मिलता है। इस शब्दमें सब कथाओं एवं सब कल्पोंके श्रीरामावतारोंके चरितों तथा सभी ऋषियोंके वचनोंका

निर्वाह हो जाता है। 'सुरलोक' में स्वर्ग, वैकुण्ठ, क्षीरसागर, साकेत, गन्धर्वलोक, यक्षलोक इत्यादि सभीका ग्रहण प्रसंगानुकूल हो सकता है।

अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥४॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥५॥

शब्दार्थ—**संजोगा**=समागम, जोड़-तोड़ या योग (लग जाना, भिड़ जाना)।

अर्थ—भाइयों और सखाओंके संग भोजन करते हैं। माता-पिताकी आज्ञा पालन करते हैं॥४॥ जिस प्रकार श्रीअयोध्यापुरीके रहनेवाले सुखी हों, दयासागर श्रीरामजी वही योग प्राप्त कर देते हैं॥५॥

'अनुज सखा सँग भोजन करहीं' इति।—

शिकारगाहके पीछे इस चरणके होनेसे किसी-किसी महानुभावने यह भाव कहा है कि शिकारगाहहीमें सब बैठकर शिकारका मांस भोजन करते थे। हमारी समझमें यह अर्थ करना महा अनर्थ है, महापाप है। यह अर्थ प्रायः मांसभक्षक, निर्दयी जीवहिंसक, परायी आत्माको दुखानेमें प्रसन्न होनेवाले या मांसभक्षी शाक्त लोग ही करते होंगे। यह अर्थ और भाव मानसके विज्ञ, मानसके मर्मज्ञ, मानसको गुरुसे पढ़े हुए कदापि नहीं करते। एक महानुभावने 'मांसभक्षण' सिद्ध करनेके लिये यहाँतक लिख डाला है कि 'ग्रन्थकार वैष्णव हैं, साक्षात् रामजीका मृगमांस भोजन करना कहीं नहीं लिखते। पर आशयसे यहाँ सूचित कर दिया है कि मृगादिको ले आते हैं और मृगमांस भोजन करते हैं।' शोक है कि उन्होंने यह विचार न किया कि पूर्व कह आये हैं कि रघुवंशी वैष्णव हैं, उनके कुलके इष्टदेव भगवान् हैं।—*'निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह असनाना॥'* भला वैष्णवोंका कहीं यह अभक्ष्य आसुरी भोजन करना पाया जाता है? फिर कुछ अवैष्णव एक प्रामाणिक टीकाकारका हवाला (प्रमाण) देते हैं कि उन्होंने ऐसा अर्थ किया है। हमें एक तो इसमें संदेह है कि उनकी हस्तलिखित टीकामें ऐसा भाव लिखा हो। संदेहका कारण भी है। उनकी टीकामें कुल सात काण्ड हैं पर जो नवलकिशोर प्रेसने छापा है उसमें आठ काण्ड हैं। इसी तरह उसमें और अनेक बातें हैं जो प्रथम संस्करणमें नहीं हैं। क्या जाने प्रेसवालोंकी कृपासे जहाँ-तहाँ भाव भी अपने मतके उसमें ठूँस दिये गये हों। दूसरे, वह टीका १२ पण्डितोंकी सहायतासे लिखी गयी थी। वे पण्डित एक राजाकी तरफसे वेतन पाते थे। सम्भव है कि किसी शाक्त पण्डितने उसमें यह भाव चुपचाप घुसेड़ दिया हो। तीसरे, यदि यह भाव उनका ही हो तो भी हम उसको स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं, सम्मानपूर्वक उनके मतसे सहमत नहीं हो सकते। क्योंकि पूर्वप्रसंगसे इस भावसे पूर्ण विरोध है।

गोस्वामीजीके समस्त ग्रन्थोंमें कहीं भी मृगमांस भोजन करना नहीं पाया जाता। इसलिये भी वह भाव यहाँ नहीं लगाया जा सकता। फिर *'देखावहिं आनी'* भी हमारे मतकी पुष्टि कर रहा है कि इनको खाते नहीं। खाते तो लाकर दिखाते कैसे?

हमारी समझमें यहाँ उनकी (श्रीरामजीकी) दिनचर्या वर्णन करते हैं। सबेरे उठकर नित्य क्रिया करके भाइयों और सखाओंको साथ लेकर वनको जाते हैं, शिकारको लाकर पिताको दिखाते हैं। इतनेमें भोजनका समय आ जाता है और वे सब भाइयों और सखाओंसहित एक साथ बैठकर भोजन करते हैं। सखाओं और भाइयोंको साथ भोजन कराना नीति है। ऐसे सेवक फिर कभी विरोधी नहीं होते।

यह दास श्रीनंगे परमहंसजीके मतसे भी सहानुभूति प्रकट करता है। वे लिखते हैं कि 'यह प्रसंग श्रीरामजीके पृथक्-पृथक् गुणवर्णनका है। श्रीरामजी भाइयों और सखाओंको संग लेकर नित्य शिकारको वनमें जाते हैं। जो पुण्यात्मा जीव शाप वा वरके कारण मृगयोनिको प्राप्त होकर प्रभुके हाथ मुक्त होनेकी आशा जोह रहे थे उनका जियमें जान करके शिकार करते…। अब दूसरा गुण श्रीरामजीका यह वर्णन किया गया है कि यद्यपि आप बड़े हैं, चक्रवर्ती राज्यके उत्तराधिकारी हैं तथापि कोई विशेषता न ग्रहण करके, भोजन प्रसाद भी छोटे भ्राताओं और सखाओंको संग ही लेकर करते हैं। अब देखा जाय कि

भोजनके इस अनुपम प्रसंगको शिकारके प्रसंगके साथ जोड़कर यह अनर्थ कर देना कि उन्हीं शिकारोंका मांस भाइयों और सखाओंके संग खाते थे, महा-अयोग्य है। वह शिकार तो राजाको दिखानेहीके निमित्त लाना कहा गया है और इसीसे ध्वनित भी है कि शेर-गैंडा इत्यादिके हिंसक मृगोंका शिकार होता था, जिसको दिखानेसे चक्रवर्तीकुमारकी शूरताका परिचय हो। सिंहादिका शिकार मांसाहारी भी खानेके लिये नहीं करते, न उनका मांस खाया ही जाता है।

फिर दूसरे चरणमें लिखते हैं कि *'मातु पिता अग्या अनुसरहीं।'* इससे भी निश्चय है कि यह तीसरा गुण वर्णन करते हैं। शिकार करके आये, भोजन तैयार है, पिता-माताका वात्सल्य ही यही है कि वे तुरत उनको भोजन कराते हैं। आज्ञा दी कि चलो, अब सब भोजन कर लो, बस, तुरत भोजन करने चले गये। भाई-सखा सब साथ आये ही हैं, साथ ही भोजन करने लगे।

नोट—१ (क) *'अनुज सखा सँग भोजन करहीं।'* प्रथम अनुजको फिर सखाओंको कहकर पंक्तिका क्रम भी दिखा दिया है। पासमें पहले भाई बैठे हैं तब सखा। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि आज शिकारमें कुछ विलम्ब हो गया है, इससे आते ही भोजन करना वर्णन किया। (ख) *'अग्या अनुसरहीं'।* 'क्या आज्ञापालन करते हैं यह आगे लिखते हैं—*'आयसु माँगि करहिं पुरकाजा।'* (पं० रा० कु०)। शिकारगाहके पीछे यह चरण होनेसे यह भाव भी कहा जाता है कि वहीं शिकारगाहमें भोजन करते थे, घरसे पकवान बनकर साथ जाया करता था।

श्रीत्रिपाठीजी इसका भाव यह कहते हैं कि सुखमें अनुज और सखाओंका स्मरण करते थे और आज्ञा-पालनमें स्वयं प्रस्तुत रहते थे, अनुज और सखाको नहीं कहते थे कि जो आज्ञा मुझे हुई है उसे तुम जाकर कर दो।

नोट—२ श्रीरघुनाथजीके सखाओंके नाम; यथा—'**सखायो रामचन्द्रस्य बहवः सन्ति शौनक। शत्रुघ्नो भरतश्चैव लक्ष्मणः परवीरहा॥ १॥ प्रतापी शत्रुनाशश्च प्रतापाग्र्यो युधिष्ठिरः। सुकर्मा सुष्ठुरूपश्च जयश्च विजयस्तथा॥ सुकण्ठो दीर्घबाहुश्च सुशिराश्चातिविक्रमी। चारुचन्द्रश्च भानुश्च रिपुवारस्तथारिजित्॥ ३॥ तथा शील: सुशीलश्च गजगामी मनोहरः। सबलाश्वो हरिदश्वो तथान्ये च सहस्रशः॥**' (४) (सत्यो० पू० ३८)। पुनश्च यथा—'**प्रतापाग्र्यं नीलरत्नं वीरभद्रं महाबलम्॥ २॥ सबलाश्वं हरिदश्वं शोणाश्वं हरिदश्वकम्। चन्द्रभानुं चन्द्रचारुं रिपुवारं रिपुञ्जयम्॥ ३॥ भद्राश्वं च जयन्तं च सुबाहुं च महामतिम्। अन्यानपि महावीरान् मृगयासिद्धिकारकान्॥ ४॥**' (सत्यो० पू० ४३)।

टिप्पणी—१ *'जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा।…'* इति। [यह चौथा गुण वर्णन करते हैं।] जो बड़े हैं उनकी आज्ञानुसार चलते हैं। जो बराबरके हैं उनके साथ भोजन करते हैं। अब जो छोटे हैं उनके साथका बर्ताव (आचरण, व्यवहार) कहते हैं। प्रजा अपने सेवक हैं अत: छोटे हैं, उनको सुख देनेके लिये उचित संयोग जुटा देते हैं। पुरवासी बहुत हैं, सबकी रुचि रखते हैं, सबको सुख देते हैं, अतएव सुखकी विधियाँ बहुत हैं, कहाँतक लिखें; इसीसे कहते हैं कि वही संयोग अर्थात् उपाय करते हैं। तात्पर्य कि जो जिस विधिसे सुखी हो सकता है उसी विधिसे उसे सुखी करते हैं। भाइयों-सखाओंको साथमें लेकर शिकारको जाते हैं, साथमें भोजन करते हैं, इस तरह उनको सुखी करते हैं। माता-पिताकी आज्ञा पालन कर उनको सुख देते हैं। बड़े, बराबरके और छोटे सबके साथ यथार्थ व्यवहार बर्तते हैं। सबको सुखी करते हैं; इसीसे 'कृपानिधि' विशेषण दिया।

बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥ ६॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥ ७॥
आयसु माँगि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषै मन राजा॥ ८॥

अर्थ—मन लगाकर वेद-पुराण सुनते हैं। (जो बात कठिन है वह) आप स्वयं भाइयोंसे समझाकर कहते

हैं॥ ६॥ श्रीरघुनाथजी प्रातःकाल उठकर माता, पिता और गुरुजीको प्रणाम करते हैं, मस्तक नवाते हैं॥ ७॥ और, आज्ञा माँगकर नगरका काम करते हैं। चरित देख-देखकर राजा मनमें प्रसन्न होते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'बेद पुरान सुनहिं'*** क्योंकि आप वेदपुराणोक्त धर्मके संस्थापनकर्ता हैं। स्वयं आचरण करके सबको उपदेश करते हैं कि वेदपुराण मन लगाकर सुनने चाहिये। (ख) ***'मन लाई'*** क्योंकि जो मन लगाकर न सुने वह कथा सुनने-सुनानेका अधिकारी नहीं है; यथा—***'यह न कहिय सठ ही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि॥'*** (ग) ***'आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई।'*** भाई सब ज्ञाता हैं परंतु ***'सुनी चहहिं प्रभु-मुख कै बानी।'*** (७। ३६) अतएव जो बातें कठिन हैं उनको वे पूछते हैं और प्रभु समझाते हैं। प्रभुके समझानेमें श्रीरामजीका भाइयोंपर वात्सल्य दिखाया। भाई प्रभुके मुखसे सुनना चाहते हैं, क्योंकि उनके वचनसे भ्रम दूर होता है—***'सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी॥'*** (७। ३६) [कथा सुनकर उसका अनुमोदन करना चाहिये, यथा—***'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं।'*** भाइयोंको समझानेमें अनुमोदनका भाव भी आ गया। ☞यह चौथा गुण कहा। ***'समुझाई'*** से जनाया कि विस्तृत व्याख्या करते हैं।]

चार प्रकारसे विद्या अभीष्ट फलदानमें समर्थ होती है। आगमकालसे, स्वाध्यायकालसे, प्रवचनकालसे और व्यवहारकालसे। इनमेंसे दोको कह चुके।—***'गुरु गृह गए पढ़न रघुराई। अल्पकाल बिद्या सब आई॥', 'बेद पुरान सुनहिं मन लाई',*** अब प्रवचनकाल और व्यवहारकाल कहते हैं—***'आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई', 'प्रातकाल उठिकै'''।'***

नोट—१ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'श्रीरामजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनों भाइयोंको समझाते हैं कि देखो वेद पयसिंधुरूप हैं। इनमें जो ज्ञान, कर्म, उपासना आदि अनेक भेद हैं वे ही उत्तम रत्न हैं और जो केवल ईश्वरकी कथा है वही अमृतरूप है, भवरोगका नाश करती है, मृतकरूप ईश्वरविमुख जीवोंको ईश्वरसन्मुखकर जीवन प्रदान करती है। और जो उसमें भक्ति है वही मधुरतारूप है जो सर्वोत्तम है।' यथा—***'ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं। कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं॥'*** (७। १२०)

टिप्पणी—२ ***'प्रातकाल उठि कै रघुनाथा।'''*** इति। (क) वेद-पुराण सुनते हैं, भाइयोंको समझाते हैं, और जो वेद-पुराण कहते हैं उनको करते हैं। (जो उपदेश करे उसपर स्वयं चले यह परम आवश्यक है—***'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥'*** (६। ७७) ☞यह पाँचवाँ गुण कहा। प्रातःकाल उठकर गुरुजनोंको प्रणाम करना विधि है, अतः इसे करते हैं।) (ख)—***'प्रातकाल'*** अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें। ***'मातु पिता गुरु नावहिं माथा'*** इति। जैसे-जैसे क्रमसे माथा नवाते हैं वैसा ही लिखते हैं। [माताके पास सोते हैं; अतः उठनेपर प्रथम माताका ही दर्शन होता है तब पिताका और बाहर जानेपर गुरुका। अथवा] प्रथम माताको, तब पिताको, तब गुरुको क्योंकि माता पितासे बड़ी है और पिता गुरुसे बड़े हैं, यथा—**'उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥'** इति। (मनु० २। १४५) यह भी दिखाया कि माता, पिता और गुरुसे पहले सोकर उठते हैं, यथा—***'गुरु ते पहिले जगतपति जागे राम सुजान॥'***

टिप्पणी—३ ***'आयसु माँगि करहिं पुर काजा।'''*** इति। (क) प्रथम जो कहा था कि ***'मातु पिता अज्ञा अनुसरहीं'*** उसीको स्पष्ट करते हैं। जो माता-पिता आज्ञा देते हैं वही करते हैं (यह ***'अज्ञा अनुसरहीं'*** का भाव है) और अपनी ओरसे आज्ञा माँगते हैं, इतनी श्रद्धा माता-पितामें है। अपनी ओरसे आज्ञा क्यों माँगते हैं? इसका उत्तर ***'जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥'*** से ध्वनित होता है। उसीका भावार्थ ***'आयसु माँगि'''***' में स्पष्ट किया है। पुरका कार्य स्वयं करते हैं, जिसमें पुरवासियोंको सुख मिले, उन्हींको सुख देनेका संयोग आज्ञाद्वारा उपस्थित कर देते हैं। (ख) पुत्रको राज्यकार्य करते देख पिताको हर्ष हुआ ही चाहे, अतः पुरकाज करनेपर ***'हरषै मन राजा'*** कहा। ☞इस तरह माता, पिता, गुरु तीनोंको सुख देना दिखाया। [भोजन करानेमें माताको सुख; यथा—***'अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं॥'*** (७। २६) पुरकाजसे पिताको सुख और प्रणामसे तथा कथाश्रवणसे गुरुको सुख। पुनः, 'पुरकाज' करनेसे राजाको हर्ष होता था, इस कथनसे जनाया कि श्रीरामजी बड़े नीतिज्ञ थे। यथा—***'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'*** पुरकाज करनेमें ये चारों देखे गये।]

नोट—२ ☞प्रतिदिनके ये नियम बड़े महत्त्वके हैं। अब छूट गये हैं, इसीसे तो समाजका संयम नष्ट हो गया है। कोई माता, पिता और गुरुको मानता ही नहीं। (अब तो लड़के कहते हैं कि माताका हमपर क्या उपकार, वह तो अपनी अग्नि बुझानेमें लगी थी, हम उससे निकल पड़े। बापको कहते हैं कि ये मूर्ख हैं, हम साइन्स आदि पढ़े हैं, अपटूडेट हैं, यह गँवार बुड्ढा बोदी अक्लका है, इसकी आज्ञा हम कैसे मानें, यह हमारी आज्ञामें चले। गुरुको गुरुडम और पोपिज्म कहकर उसका बायकाट किया जाता है। मन्त्र पुस्तकोंमें लिखे हैं, हम स्वयं पढ़ सकते हैं, गुरुकी क्या जरूरत। इत्यादि-इत्यादि) स्वतन्त्रताकी मादकतामें गति यह है कि *'बापै पूत पढ़ावै १६ दूनी ८।'* ठीक है उलटी शिक्षा तो होगी ही। (लमगोड़ाजी)

नोट—३ समानार्थी श्लोक ये हैं—**'प्रातरुत्थाय सुस्नातः पितरावभिवाद्य च। पौरकार्याणि सर्वाणि करोति विनयान्वितः॥ ६४॥ बन्धुभिः सहितो नित्यं भुक्त्वा मुनिभिरन्वहम्। धर्मशास्त्ररहस्यानि शृणोति व्याकरोति च॥ ६५॥'** (अ० रा० १। ३)। मानसमें क्रम उलटा है। *'बेद पुरान सुनहिं'''* प्रथम है और *'प्रातकाल'''* पीछे। क्रम उलटकर यह भी जनाया है कि कथा तीसरे पहर अथवा रात्रिको होती है। उसके पश्चात् शयन करते हैं और सवेरे सबसे पहले उठते हैं। मानसमें 'गुरु' को भी प्रणाम करना कहकर गुरुमें भी वैसी ही श्रद्धा दिखायी।

दोहा—व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥ २०५॥

शब्दार्थ—व्यापक, अनीह, अज, नाम न रूप-दोहा १। १३। ३-४ मा० पी० भाग १ देखिये। **अकल**—कलारहित, अव्यवहरित, सर्वाङ्गपूर्ण। अकल, अनीह, अज—दोहा ५० मा० पी० भाग २ देखिये। निर्गुण—१। २१। ८, १। २३। १, १। २३ मा० पी० भाग १ देखिये।

अर्थ—जो व्यापक है, कलारहित है, प्राकृत चेष्टा वा इच्छारहित है, अजन्मा है, अव्यक्त एवं मायिक गुणोंसे परे है, प्राकृत नाम-रूपरहित है, वही भक्तोंके लिये अनेक प्रकारके सुन्दर उपमारहित चरित्र कर रहा है॥ २०५॥

टिप्पणी—१ भाव कि जो व्यापक है वह एक देशमें (प्रकट देख पड़ रहा है), जो पूर्ण है वह खण्डित देख पड़ता है, जो चेष्टारहित है वह चेष्टा करता हुआ देख पड़ता है। ☞यहाँतक तीन दोहोंमें (१९८, १९९ और यहाँ २०५में) प्रायः एक ही बात कही है और एकसे ही विशेषण दिये हैं। १९८ में माताका ही नाम लिखा, क्योंकि तब माताकी गोदमें रहनेसे माताको ही विशेष सुख मिला था। १९९ में पिताको भी कहा (क्योंकि अब आँगनमें विचरने लगे थे) और जब महलसे निकलने लगे तब पुरवासियों, भक्तोंको सुख मिला; इसीसे बाहर निकलनेपर दोहा २०५ में उसी ब्रह्मका भक्तोंको सुख देना कहा। इस तरह तीन दोहे तीन व्यक्तियोंके विचारसे पृथक्-पृथक् लिखे गये।

नोट—भक्तोंके लिये अवतार लेते हैं; यथा—*'अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी'* *'भक्त भूमि भूसुर सुरभि''''।'* भक्तोंके लिये चरित्र करते हैं, यथा—*'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं॥'* अतः भक्तोंको भी सुख देना लिखा।

☞*'बालचरित पुनि कहहु उदारा'* इस प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ। *'यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई॥'* (२०६। १)

अवतार और बालकेलि-प्रकरण समाप्त हुआ।

विश्वामित्रयज्ञरक्षा एवं अहल्योद्धार-प्रकरण

यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई॥ १॥

अर्थ—मैंने यह सब चरित गाकर कहा (अब) आगेकी कथा मन लगाकर सुनो॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) *'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा।'* (१८८। ६) इसपर अवतार हेतुकी इति लगायी थी।' *'यह सब चरित कहा मैं गाई।'* यहाँ बालचरितकी इति लगायी। पहले पृथक्-पृथक् कहा, यहाँ सबको एकत्र कर दिया। यथा—*'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा।'* (१९२। ६) *'बालचरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए॥'* (२०४। १) तथा *'यह सब चरित कहा मैं गाई।'* 'सब' में उपर्युक्त दोनों भी आ गये। (ख) *'सुनहु मन लाई'* कहकर आगेकी कथाकी सुन्दरताका परिचय दे रहे हैं। इन शब्दोंसे जनाते हैं कि अगली कथा बहुत सुन्दर है। मन लगाकर सुनने योग्य है। (ग) ☞सभी कथाओंको भी सुन्दर कह आये हैं; यथा—*'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा', 'बालचरित अति सरल सुहाए।'* इसीसे आगेकी कथाको भी सुन्दर कहा। (घ) *'आगिलि कथा सुनहु'* अर्थात् यह कथा समाप्त हुई।

टिप्पणी—२ बाल (अर्थात् शिशु, कुमार और पौगण्ड अवस्थाओंके चरित) समाप्तकर अब किशोरावस्थाके चरित कहते हैं। यहाँसे विवाहकी भूमिका है। बालचरितका प्रश्न करके पार्वतीजीने विवाहका प्रश्न किया है; यथा—*'बालचरित पुनि कहहु उदारा॥ कहहु जथा जानकी बिबाही।'* (११०। ५-६) अतएव यहाँसे श्रीपार्वतीजीके चतुर्थ प्रश्न *'कहहु जथा जानकी बिबाही'* का उत्तर चला। इससे श्रीभुशुण्डिजीके मूल रामायणके इस अंशका वर्णन है—*'रिषि आगमन कहेसि पुनि श्रीरघुबीर बिबाह।'* इस समय श्रीरामजी चौदह वर्षके हो चुके, पंद्रहवाँ चल रहा है, जैसा वाल्मीकीयमें दशरथजीके वचनोंसे स्पष्ट है। यथा—'**ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।**' (१। २०। २) अर्थात् मेरा कमलनयन राम अभी सोलह वर्षसे भी कम अर्थात् पंद्रह वर्षका है। मायादर्शरामायणमें और भी स्पष्ट है, यथा—'**श्रीरामेण यदा स्वयं शिवधनुर्भक्त्वा जितो जानकी ह्यासीत्पञ्चदशाब्दिकेन वयसा षड्वार्षिकी मैथिली॥**'

* 'मन लाई' के भाव *

पं० रा० कु०—बिना मन लगाये चरित समझमें न आयेगा, इसीसे सर्वत्र मन लगानेको कहा है।

बैजनाथजी—विवाह आदि अगला चरित शृङ्गारसहित माधुर्यलीला है, इससे मन लगाना कहा।

पंजाबीजी—आगे विश्वामित्रजीका राजाके पास जाना कहेंगे। राजा उनसे वचनबद्ध होनेपर भी कहेंगे कि राम मुझे प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं? इससे उनमें मोह या अज्ञानका आरोपण न कर बैठना, किंतु यह समझना कि ऐसा प्रेम है तभी तो प्रभुका आविर्भाव इनके यहाँ हुआ। ताड़का, सुबाहु आदिकी कथा भी मोहित करनेवाली है, उससे यह न समझ लेना कि प्रभुमें क्रोधादि विकार हैं, वे तो यह क्रीड़ा सन्तों और देवताओंकी रक्षा और राक्षसोंकी मुक्तिके निमित्त कर रहे हैं। पुन: यह न संशय करना कि मुनि भी तो मनुष्य हैं, इनसे राजा क्यों डरे? मुनिकी उत्तम करनीका यह प्रभाव है कि राजा भी उनसे डरते हैं, अत: हमको भी उत्तम करनी करना चाहिये, यह उपदेश यहाँ है।

रा० प्र०—'बिना मन लगाये मनमें इसका आना कठिन है। वा, *'प्रभुतन आधा सीता रानी। रूप अगाध सील गुन खानी॥'* ये जो हैं उनका संयोग आगे वर्णित है; अतएव *'मन लाई'* कहा।

वि० त्रि०—*'मन लाई'* अर्थात् सप्रेम सुननेको कहा, क्योंकि इसके सप्रेम सुननेका फल विशेष कहा है। यथा—*'सिय रघुबीर बिवाह जे सप्रेम गावहिं सुनहिं। तिन्ह कहुँ सदा उछाह मंगलायतन राम जस॥'*

बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥ २॥

अर्थ—महामुनि और महाज्ञानी विश्वामित्रजी (सिद्धाश्रमको) शुभ आश्रम जानकर वनमें निवास करते हैं॥ २॥

नोट—१ *'महामुनि ग्यानी'* अर्थात् समस्त मुनियोंमें और समस्त ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं। *'महामुनि'* कहा, क्योंकि तपस्याके बलसे क्षत्रियसे ब्राह्मण हुए, ऐसा कोई दूसरा नहीं हुआ। यथा—*'मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥'* (३५९। ६)

पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि 'विश्वामित्र (नाम), महामुनि और ज्ञानी ये तीनों पद सहेतुक और परस्पर एक-एकके भावको पुष्ट कर रहे हैं। विश्वामित्र=विश्व+अमित्र। अर्थात् आपके सत्संगसे संसारका अभाव हो जाता है। वा, आपने संसारके पदार्थोंको नश्वर समझ उनसे ममत्व हटा लिया है। वा, संसारको

शत्रु समझकर आपने अपने अनादिकालके परममित्र श्रीरामजीकी खोज की, ऋषियोंके आचरण स्वीकार किये। अतएव आगे 'महामुनि' कहा। वेद-शास्त्रके तत्त्वके पारदर्शीको 'मुनि' कहते हैं और जो उस तत्त्वका स्वरूप ही बनकर तदाकार हो जाय वह 'महामुनि' है। तत्त्वका रूप होनेसे 'ज्ञानी' कहा। इन तीनोंके गुणोंसे संयुक्त हैं, इसीसे तो यह जानते थे कि यह आश्रम शुभ है।'

रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'ज्ञानी' विशेषण दिया गया, क्योंकि इन्होंने अपने आश्रमसे ही प्रभुका प्रादुर्भाव जान लिया।

नोट—२ '*बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी।*' (क) इस वनका नाम 'चरितवन' है। पुनः, आश्रम तो बस्ती आदिमें भी रहता है, परंतु वहाँ उपाधि भी रहती है। निरुपाधिके विचारसे '*बिपिन*' कहा। और विपिनमें निवास कहकर वैराग्य दिखाया। (रा० कु०) (ख) '*सुभ आश्रम जानी*' इति। 'शुभ' का भाव कि यहाँ अनुष्ठान शीघ्र सिद्ध होते हैं, यह आश्रम सिद्धपीठ है, परब्रह्मपरमात्मा श्रीरामजी इसे अपने चरणकमलोंसे पवित्र और सुशोभित करेंगे। इस आश्रमका नाम सिद्धाश्रम है, जो गङ्गाजीके दक्षिण तटपर स्थित है और आजकल 'बक्सर' नामसे बिहार-प्रान्तमें प्रसिद्ध है। (ग) पुनः, 'शुभ' का भाव कि आश्रम 'परमपावन' है।' सब मुनि शुभ अर्थात् परमपावन आश्रम जानकर ही बसा करते हैं; इसीसे ऋषियोंके आश्रमोंको यह (परमपावन) विशेषण दिया जाता है; यथा—'*भरद्वाज आश्रम अति पावन,*' '*देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह संसय नाना भ्रम॥*' (घ) सब मुनि शुभ आश्रम जानकर बसा करते हैं। यथा—'*तीरथ बर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक सिधिदाता॥ बसहिं तहाँ मुनि सिद्ध समाजा।*' (१४३। २-३) इत्यादि। यहाँ जप, योग, यज्ञ सिद्ध होते हैं, अतः शुभ जानकर यहाँ बसे। (पं० रा० कु०) (ङ) यह आश्रम गङ्गातटपर चण्डीदेवीके स्थानके पास है। श्रीअयोध्याजीसे ६४ कोशपर माना जाता है। इस आश्रमपर महातपस्वी विष्णुभगवान्‌ने सैकड़ों युगोंतक तपस्या करनेके लिये निवास किया था और वामनभगवान्‌का यह पूर्वाश्रम है। महातपस्वी विष्णु यहीं सिद्ध हुए थे। अतः इसका नाम सिद्धाश्रम है। यथा—'**इह राम महाबाहो विष्णुदेवनमस्कृतः। वर्षाणि सुबहूनीह तथा युगशतानि च॥ २॥ तपश्चरणयोगार्थमुवास सुमहातपाः। एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः॥ ३॥ सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः।**' (वाल्मी० १। २९) अतः '*सुभ आश्रम जानी*' कहा। ऐसा जानकर ही विश्वामित्रजी यहाँ यज्ञ करनेके लिये कौशिकीतट छोड़कर आये थे। विश्वामित्रने श्रीरामजीसे यह भी कहा है कि महात्मा वामनने यहाँ निवास किया। उनके प्रति मेरी भक्ति होनेसे मैं वहाँ रहता हूँ—'**मयापि भक्त्या तस्यैष वामनस्योपभुज्यते।**'(१। २९। २२) अतः '*सुभ जानी*' कहा।

नोट—३ '*विश्वामित्र*' इति। विश्वामित्रजीने श्रीरामजीके पूछनेपर बताया है कि 'ब्रह्मपुत्र राजा कुशके चार पुत्रोंमेंसे 'कुशनाभ' दूसरा पुत्र था। राजा कुशनाभने पुत्रप्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि-यज्ञ किया, जिसके फलस्वरूप 'गाधि' नामका परम धार्मिक पुत्र पैदा हुआ। यही महात्मा गाधि मेरे पिता हैं। कुशवंशमें उत्पन्न होनेसे 'कौशिक' कहा जाता हूँ (वाल्मी० १। ३३। ३, १। ३४। १, ५, ६)। मेरी बड़ी बहिनका नाम 'सत्यवती' था, जो महर्षि ऋचीकको ब्याही गयी थी, जो इस शरीरसे ही स्वर्गको गयी और उसके नामसे कौशिकी नामकी एक महानदी बही। इसीसे मैं हिमवान्‌की तराईमें उसके तटपर सुखपूर्वक निवास करता हूँ। यज्ञ करनेके लिये मैं वहाँसे यहाँ सिद्धाश्रममें आया और तुम्हारे पराक्रमसे मुझे सिद्धि मिली।—'**अहं हि नियमाद्राम हित्वा तां समुपागतः। सिद्धाश्रममनुप्राप्तः सिद्धोऽस्मि तव तेजसा॥**' (वाल्मी० १। ३४। १२)

इनका नाम 'विश्वरथ' था। ब्रह्म-ऋषित्व प्राप्त होनेपर 'विश्वामित्र' नाम हुआ। इनके जन्मकी कथा इस प्रकार है—एक बार श्रीसत्यवतीजी और उनकी माताने श्रीऋचीकजीके पास पुत्रकामनासे जाकर उसके लिये प्रार्थना की। ऋषिने दो प्रकारके मन्त्रोंसे चरुको सिद्ध करके उनको बताकर कि अमुक चरु तुम (सत्यवती) खा लेना और अमुक तुम्हारी माता खा लें। यह कहकर वे स्नानको चले गये। माताने सत्यवतीके चरुको श्रेष्ठ समझकर उससे उसका चरु माँग लिया और अपना उसको दे दिया।

यथा—'**स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया। श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः॥ तावत्सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती। श्रेष्ठं मत्वा तयाऽयच्छन्मात्रे मातुरदत्स्वयम्॥**' (भा० ९। १५। ८-९)

विष्णुपुराणमें इसको और स्पष्ट करके लिखा है कि 'ऋचीकजीने दो चरु सत्यवतीको दिये और बता दिया कि यह तुम्हारे लिये है और यह तुम्हारी माँके लिये। इनका तुम यथोचित उपयोग करना' यह कहकर वे वनको चले गये। उपयोग करनेके समय माताने कहा—'बेटी! सभी लोग अपने ही लिये सबसे अधिक गुणवान् पुत्र चाहते हैं, अपनी पत्नीके भाईके गुणोंमें किसीकी भी विशेष रुचि नहीं होती। अतः तू अपना चरु मुझे दे दे और मेरा तू ले ले, क्योंकि मेरे पुत्रको तो सम्पूर्ण भूमण्डलका पालन करना होगा और ब्राह्मणकुमारको तो बल, वीर्य तथा सम्पत्ति आदिसे लेना ही क्या है? ऐसा कहनेपर सत्यवतीने अपना चरु माताको दे दिया। यथा—'**पुत्रि सर्वं एवात्मपुत्रमतिगुणमभिलषति नात्मजायाभ्रातृगुणेष्वतीवादृतो भवतीति॥ २१॥ अतोऽर्हसि ममात्मीयं चरुं दातुं मदीयं चरुमात्मनोपयोक्तुम्॥ २२॥ मत्पुत्रेण हि सकलभूमण्डलपरिपालनं कार्यं कियद्वा ब्राह्मणस्य बलवीर्यसम्पदेत्युक्ता सा स्वचरुं मात्रे दत्तवती॥ २३॥**' (वि० पु० ४। ७)

जब ऋषिको यह बात ज्ञात हुई तब उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा कि तुमने यह बड़ा अनुचित किया। ऐसा हो जानेसे अब तुम्हारा पुत्र घोर योद्धा होगा और तुम्हारा भाई ब्रह्मवेत्ता होगा। सत्यवतीके बहुत प्रार्थना करनेपर कि मेरा पुत्र ऐसा न हो, उन्होंने कहा कि अच्छा, पुत्र तो वैसा न होगा किंतु पौत्र उस स्वभावका होगा। राजा गाधिकी स्त्रीने जो चरु खाया उसके प्रभावसे विश्वामित्रजी हुए, जो क्षत्रिय होते हुए भी तपस्वी और ब्रह्मर्षि हुए।

इनके सौ पुत्र हुए। इससे इनके कौशिकवंशकी बहुत अधिक वृद्धि हुई। ये बड़े क्रोधी थे। शाप दे दिया करते थे। राजा हरिश्चन्द्रके सत्यकी सुप्रसिद्ध परीक्षा लेनेवाले भी यही हैं। ऋग्वेदके अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनके द्रष्टा ये या इनके वंशज माने जाते हैं। ब्रह्मगायत्रीके ये ऋषि हुए। ये बड़े तेजस्वी हुए। इन्होंने तपके प्रभावसे क्षत्रियत्वको छोड़कर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। इसकी संक्षिप्त कथा यों है कि एक बार ये बड़ी सेना-समाज लेकर शिकारको गये। मार्गमें वसिष्ठजीके आश्रमपर ठहरे। मुनिके पास एक कामधेनु थी, जिसकी सहायतासे उन्होंने राजाका सेनासहित बड़ा आदर-सत्कार किया। विश्वामित्रको जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने वह गऊ उनसे माँगी। देना स्वीकार न करनेपर राजा उसे बलात् ले जाने लगे; परन्तु इसमें वे सफल न हुए। फिर बड़ी भारी सेना लाकर उन्होंने उसे छीनना चाहा, पर उनकी सब सेना और पुत्र मारे गये। एक पुत्र बचा उसे राज्य दे इन्होंने कठिन तपस्या करके शिवजीसे अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये और उनके बलपर फिर वसिष्ठजीसे गऊ छीनने आये, परंतु इनके ब्रह्मदण्डके आगे उन सब अस्त्र-शस्त्रोंका तेज नष्ट हो गया। लज्जित होकर ब्रह्मत्व प्राप्त करनेके उद्देश्यसे इन्होंने कठिन तप किये। ब्रह्मादि देवताओंने इन्हें तब ब्रह्मर्षि पद दिया। ये वसिष्ठजीके ऐसे परम शत्रु हो गये थे कि उनके पुत्रोंको शाप देकर इन्होंने भस्म कर दिया था। वाल्मीकीय (सर्ग ५१ से ६५ तक) में विस्तृत कथा है। ३५९ (६) में और भी देखिये।

जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥ ३॥
देखत जज्ञ निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥ ४॥

अर्थ—जहाँ मुनि जप, यज्ञ और योग करते हैं। मारीच और सुबाहुको अत्यन्त डरते हैं॥ ३॥ यज्ञ देखते ही निशाचर दौड़ पड़ते (धावा करते) और उपद्रव (उत्पात) करते हैं, जिससे मुनिको दुःख होता है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) [**'जहँ'** (जहाँ) अर्थात् उस सिद्धाश्रमपर। **'जहँ'** का सम्बन्ध पूर्वकी अर्धालीसे है। किसी-किसीका मत है कि, **'जहँ'**=जहाँ कहीं भी आश्रममें।] (ख) ***'जप जोग जज्ञ'*** इति। 'जप' को प्रथम कहनेका भाव कि जपयज्ञ भगवान्‌का स्वरूप है, अतः सबमें श्रेष्ठ है; यथा—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।**' श्रेष्ठकी गणना प्रथम होनी ही चाहिये। पुनः, क्रमका भाव कि जप उपासना है, यथा—***'मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा।'*** योग ज्ञान है, यथा—***'नाम जीह जपि जागहिं जोगी।'*** यज्ञ कर्म है, यथा—***'त्रेता बिबिध जज्ञ नर करहीं'*** (इस तरह कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंमें मुनिको तत्पर दिखाया।)

टिप्पणी—२ *'अति मारीच सुबाहुहि डरहीं'* इति। (क) भाव कि राक्षस जप, योग और यज्ञ नहीं करने देते; यथा—*'जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा। आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा॥'* इसीसे डरते रहते हैं कि वह सुनते ही आकर उपद्रव मचावेगा। यथा—*'सुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाइ धावा मुनिद्रोही॥'* (ख) *'मारीच सुबाहुहि'* में मारीचका नाम प्रथम देकर जनाया कि मारीच ज्येष्ठ भ्राता है और सुबाहु लघु है। यथा—*'नाम राम लछिमन दोउ भाई'* *'नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई'* और *'भरत सत्रुहन दूनौ भाई',* इत्यादि। (ग) *'मारीच सुबाहुहि डरहीं'* कहकर जनाया कि रावणने पृथ्वीभरमें जहाँ-तहाँ राक्षसोंकी चौकी बिठा दी है, जो राक्षसोंके राज्य और उनके नीतिकी रक्षा करते हैं। जो राक्षसों वा रावणकी नीतिके विरुद्ध काम करते हैं उनको सताते हैं। इस देशके रखवाले मारीच और सुबाहु हैं। इसीसे उनसे डरना कहा गया। मारीच और सुबाहुकी कथा १। २४। ४ में देखिये।

नोट—१ *'अति डरहीं'* के भाव— (क) डरते तो सब दिन हैं पर जप, यज्ञादि करते 'अति' डरते हैं, क्योंकि जपादि करनेसे राक्षस वैर मान लेते हैं। इनका करना उनसे वैर ठानना है। (पं० रा० कु०) (ख) बलसे किसीको जीत नहीं सकते, यह डर सदा रहता है और यह समझकर कि 'वे शापसे राक्षस हुए हैं, उसमें अब दूसरेका शाप लग नहीं सकता' उनका डर और अधिक हो गया है; इसीसे *'अति डरहीं'* कहा। (वै०) (ग) डरते तो सभी राक्षसोंसे थे, पर इनसे बहुत डरते थे। इसका कारण आगे स्वयं कहते हैं कि *'देखत जज्ञ निसाचर धावहिं।'* (घ) किसीका मत है कि 'जप और योग' के समय तो साधारण डर रहता था और यज्ञ करनेमें 'अति' डरते थे, क्योंकि धुआँ निकलते ही निशाचरोंको पता लग जाता था और वे तुरत दौड़ पड़ते थे। (ङ) *'मारीच'* बड़ा क्रोधी और मुनिका द्रोही भी है, इसीसे 'अति' डरते हैं। क्रोधी वैरी भयंकर होता है।

टिप्पणी—३ देवता राक्षसोंके वैरी हैं—*'हमरे बैरी बिबुध बरूथा'* यज्ञसे देवता प्रबल होते हैं, इसीसे राक्षस यज्ञविध्वंस करते हैं। *'धावहिं'* शब्द देकर जनाया कि यज्ञके नष्ट करनेमें बड़े सावधान हैं, शीघ्र ही नष्ट कर डालते हैं, समाचार मिलते ही तुरत धावा बोल देते हैं, स्वयं भी दौड़ते जाते हैं। यथा—*'आपुन उठि धावै रहै न पावै'* ""(रावण) *'सुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाय धावा मुनि द्रोही॥'* तथा यहाँ *'देखत जज्ञ निसाचर धावहिं।'* *'देखत'* पदसे जनाया कि निशाचर यज्ञकी खोजमें बराबर लगे रहते हैं। ['देखत' से जनाया कि धुआँ उठता हुआ देख जान जाते हैं कि यज्ञ होता है। ताकमें तो रहते ही हैं। कभी नियमके प्रारम्भ होते ही विघ्न करते हैं और कभी यज्ञपूर्तिके समय; जभी वे देख पाते हैं, ये दोनों बातें *'देखत'* शब्दसे जना दीं जो वाल्मीकीयमें कही हैं। यथा—'**अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ। तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ॥ ४॥ व्रते मे बहुशश्चीर्णे समाप्त्या राक्षसाविमौ॥**' (१। १९। ४-५)

टिप्पणी—४ *'करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं'* इति। (क) **उपद्रव**=उत्पात। विष्ठा, मांस, रुधिर आदि वहाँ बरसाते, यज्ञकी सामग्री खराब करते, साधारण ब्राह्मणोंको मार डालते हैं, इत्यादि सभी बातोंका ग्रहण इस शब्दसे हो गया। यथा—'**तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम्॥**' (वाल्मी० १। १९। ६) (ख) मुनि दुःख पाते हैं, शापसे राक्षसोंका नाश इससे नहीं करते कि शापसे पापका डर है और कुछ न बोलनेसे, दण्ड न देनेसे, वे खल निरादर करते हैं। जैसा कि गीतावली पद ४५ में कहा है—*'चहत महामुनि जाग जयो। नीच निसाचर देत दुसह दुख कृस तनु ताप तयो। श्रापे पाप, नये निदरत खल, तब यह मंत्र ठयो।* पुनश्च यथा—*प्रीतिके न पातकी, दिएहूँ साप पाप बड़ो॥'* (गी० १। ६४) [पुनः शाप न देनेका दूसरा कारण यह भी है कि शापसे इनकी मृत्यु होनेमें भी संदेह है, इसीसे दुःख सहते हैं, शाप नहीं देते, जैसा कि आगे लिखते हैं—*'हरि बिनु मरिहि न निसिचर पापी।'* अर्थात् इनकी मृत्यु भगवान्‌के ही हाथसे होनी है। शाप व्यर्थ हो जानेसे वे और भी निरादर करेंगे। पुनः यज्ञकी दीक्षा लेकर बैठनेपर क्रोध करना वर्जित है और वे यज्ञारम्भके पश्चात् ही विघ्न करते हैं। इससे शाप दे नहीं सकते। यथा—'**न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव॥ तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते॥**'(वाल्मी० १। १९) *'मुनि दुख*

पावहिं'—विष्ठा-मांसादिकी वृष्टिसे दुःख होता ही है, साथ ही यज्ञ नष्ट हो जानेसे वे निरुत्साहित हो जाते हैं, यह भी दुःख ही है]।

गाधितनय मन चिंता ब्यापी। हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी॥ ५॥
तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥ ६॥

अर्थ—राजा गाधिके पुत्र श्रीविश्वामित्रजीके मनमें चिन्ता छा गयी कि ये पापी निशिचर बिना भगवान्‌के न मरेंगे॥ ५॥ तब मुनिश्रेष्ठने मनमें विचार किया कि प्रभुने पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतार लिया है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'गाधितनय मन चिंता ब्यापी'* इति। आश्रमके शुभ होने तथा इस भविष्यका ज्ञान होनेसे कि यहाँ एक दिन परतम प्रभु पधारेंगे एवं वनमें निवास करने और अद्वितीय पराक्रमी पुरुषार्थी तपोधन महात्मा ब्रह्मर्षि होनेसे इनको प्रथम 'महामुनि' और 'महाज्ञानी' कहा था। अब कहते हैं कि उनको चिन्ता व्याप गयी है। मुनियों और ज्ञानियोंके मन निर्मल होते हैं। उनको चिन्ता आदि कुछ भी कभी छू नहीं जाते, इसीसे चिन्ताके सम्बन्धसे यहाँ मुनि आदि न कहकर 'गाधितनय' कहा। सज्जनका दुःख दूर करना, पापियोंको दण्ड देना और मारना यह राजाका धर्म है। सो विश्वामित्रजीने सज्जनोंका दुःख दूर करने और पापी निशाचरोंके नाश करनेकी चिन्ता इस समय की। अतः 'गाधितनय' नाम युक्तियुक्त ही है। शत्रुनाशकी चिन्ता राजाओंको स्वाभाविक होती ही है। [पुनः 'गाधितनय' कहकर इनका पूर्वपरिचय दिया गया कि ये पराक्रमी राजाके पुत्र हैं, अस्त्र-शस्त्र-विद्यामें निपुण हैं, निशाचरोंको स्वयं मार सकते थे, परंतु इन्होंने ऐसा न किया, क्योंकि 'मुनिवर' और ज्ञानी हैं, जानते हैं कि हरिहीके हाथसे मरेंगे। दूसरे, इनपर अस्त्र-शस्त्र-विद्याका प्रयोग करनेसे मेरा बड़े दुःखसे कमाया हुआ ब्रह्मत्व नष्ट हो जायगा। चिन्तामें विचार नहीं रह जाता और मुनि विचारवान् होते हैं। इसलिये संकल्प-विकल्पसे 'गाधितनय' और आगे 'विचार' के सम्बन्धसे 'मुनिवर' कहा गया।' (रा० च० मिश्र)] ☞ चिन्ता व्यापी अर्थात् चिन्ताग्रस्त हो गये कि क्या उपाय करें जिससे यज्ञ सिद्ध हो, क्या करें जिससे ये दुष्ट उपद्रव न करें। सोचते हैं कि बिना इनके मरे कार्य न होगा। ये मरें कैसे? शाप दे नहीं सकते, दबनेसे निरादर करते हैं इत्यादि।

नोट—१ 'अब चिन्ता क्यों व्यापी? यहाँ तो वर्षोंसे रहते हैं?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—(१) सब कार्य समयपर ही प्रभुकी इच्छा एवं प्रेरणासे होते हैं। जब भगवान्‌की इस लीलाका समय आया तब भगवत्प्रेरणासे मनमें चिन्ता व्यापी। श्रीरामजी घरसे अब बाहर निकलने लगे हैं, वनमें जाकर हिंसक जीवोंका शिकार भी करने लगे हैं। राजाको भी इनके अस्त्र-शस्त्र-विद्यामें कुशल हो जानेका विश्वास हो चुका है, जैसा कि *'प्रतिदिन नृपहि देखावहिं आनी'* में बता आये हैं। इसके पूर्व चिन्तासे कार्य नहीं चल सकता था। पुनः, (२) सत्योपाख्यान उ० ४ में इस सम्बन्धमें यह लिखा है कि शिवजीने स्वप्नमें मुनिको इस समय आज्ञा दी कि श्रीअवध जाकर श्रीरामजीको ले आओ। यथा—'**महेश्वरेण चाज्ञप्तो विश्वामित्रो महामुनिः। सिद्धाश्रमाचचालाशु रामार्थं मुनिपुंगवः॥ १॥**' इसीसे अब ऐसे विचारोंका उदय हुआ।

टिप्पणी—२ *'हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी'* इति। (क) भक्तोंके क्लेशोंको हरेंगे, राक्षसोंको मारेंगे, इसी विचारसे 'हरि' नाम दिया गया। यथा—'**भक्तानां क्लेशं हरतीति हरिः।**' (ख) *'हरि बिनु मरहिं न'* इस कथनसे पाया गया कि मारीच, सुबाहु आदिकी मृत्यु हरिके ही हाथ है। (ग) निसिचर पापी हैं; भगवान् पापियोंको मारते हैं। राक्षसोंको 'पापी' कहनेका भाव कि पापी पृथ्वीका भार हैं और भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतार लेते हैं, जैसा कि आगे कहते हैं। अतः इनको मारकर भार उतारेंगे।

टिप्पणी—३ *'तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा।'''* इति (क) जब मनमें चिन्ता व्यापी तब मनमें विचार किया। मनन करना, विचार करना, मुनियोंका काम ही है। विचार करनेसे चिन्ता दूर होती है और मन सावधान हो जाता है। अतः विचार करके मनको सावधान किया। (ख) *'प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा'* इति। पृथ्वीका भार हरण करनेको समर्थ हैं, अतः 'प्रभु' कहा। राक्षस पृथ्वीके भार हैं, उनके लिये भगवान्‌ने अवतार लिया है, इस कथनमें तात्पर्य यह है कि संयोग हम मिला दें। मनमें जो विचार किया वह

भगवान् स्वयं कह चुके हैं, उसे मुनि जानते हैं। यथा—*'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥'* [बैजनाथजी लिखते हैं कि 'वर' विशेषण दिया क्योंकि त्रिकालज्ञ हैं, विचारवान् हैं, उन्होंने विचारकर जान लिया कि इस आश्रमपर भगवान्के आगमनका समय आ गया। रा० प्र० कार लिखते हैं कि प्रभुके अवतारका निश्चय किया, इससे मुनिवर कहा (सत्योपाख्यानमें भी श्रीरामजीके लेने जानेके सम्बन्धमें 'महामुनि' और 'मुनिपुंगव' विशेषण आये हैं।) *'तब मुनिबर"महि भारा'* से यह भी जनाया कि इस विचारके साथ ही उनकी चिन्ता दूर हो गयी। यथा—*'सापे पाप नये निदरत खल, तब यह मंत्र ठयो। बिप्र साधु सुर धेनु धरनि हित हरि अवतार लयो॥ सुमिरत श्रीसारंगपानि छनमें सब सोच गयो।'* (गी०। १। ४५)]

एहूँ मिस देखौं पद जाई*। करि बिनती आनौं दोउ भाई॥ ७॥

ज्ञान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना॥ ८॥

अर्थ—इसी बहानेसे भगवान्के चरणोंका जाकर दर्शन करूँ और विनती करके दोनों भाइयोंको ले आऊँ॥ ७॥ जो प्रभु ज्ञान, वैराग्य और समस्त गुणोंके स्थान हैं, उनको मैं भर नेत्र देखूँगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'एहूँ मिस'* अर्थात् यज्ञरक्षाके बहाने। बहानेसे दर्शन करनेमें भाव यह है कि साक्षात् दर्शन करनेमें भगवान्का ऐश्वर्य खुल जायगा, यह संकोच है। यथा—*'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ।'* (४८) (ख) *'देखौं पद जाई'*—इस कथनसे भगवान्के चरणोंमें विश्वामित्रजीकी भक्ति दिखायी। आगे माधुर्यके अनुकूल भगवान्से चरणसेवा लेंगे (करायेंगे)। (ग) *'करि बिनती'* इति। तात्पर्य कि अपने कार्यके बहानेसे ले आऊँ। (घ) *'दोउ भाई'* कहकर जनाया कि विश्वामित्रजी जानते हैं कि श्रीराम-लक्ष्मणका सदा सङ्ग रहता है। लक्ष्मणजी श्रीरामजीके अनुगामी हैं। यथा—*'बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥'* अथवा *'प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा'* यह प्रथम विचार करना कह आये। पृथ्वीका भार हरन करनेके लिये प्रभु श्रीरामजीका अवतार है, यथा—*'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। सुररंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुबिभार॥'*, *'जय हरन धरनी भार महिमा उदार अपार'* इति। (इन्द्रस्तुतिः) *'जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार। की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार॥'* (कि०), इत्यादि। और श्रीलक्ष्मणजीका अवतार भी भारहरणके लिये है, यथा—*'सेष सहस्त्रसीस जग कारन। सो अवतरेउ भूमि भय टारन॥'* इत्यादि। इसीसे श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयोंको लाना कहा। (ङ) *'करि बिनती आनौं दोउ भाई'* कहनेसे सूचित हुआ कि राजासे मिलनेमें सन्देह नहीं है, श्रीराम-लक्ष्मणजीके आनेमें सन्देह है कि पिताको त्यागकर कैसे आवेंगे। [पंजाबीजीका यही मत है। वे लिखते हैं कि 'यह पद प्रभुके निमित्त है, क्योंकि उनसे तो विनय ही कर सकते हैं कि चलकर सबको कृतार्थ कीजिये और राजाको तो त्रास दिखावेंगे।' विश्वामित्रजीको सन्देह हो रहा है कि राजा तो दे देंगे, क्योंकि ब्रह्मण्य हैं, पर न जाने प्रभु मातापिताको त्यागकर आवेंगे या नहीं, अतएव सोचते हैं कि उनकी विनती करेंगे। विनय करनेसे वे अवश्य आवेंगे; क्योंकि वे तो 'ज्ञान-विराग सकल गुणोंके धाम' हैं। इसीसे आगे जब प्रभु साथ हो गये तब मुनि कहते हैं कि *'प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥'*; परंतु श्रीबैजनाथजी आदि राजासे विनती करनेका अर्थ करते हैं, क्योंकि प्राणप्रिय पुत्रको देना कठिन है, याचक बनकर माँगना विनती है। गीतावली पद ४८ से, इस दीनकी समझमें, राजासे ही विनती करना सिद्ध होता है। यथा—*'राजन रामलखन जौं दीजै। जस रावरो लाभ ढोटनिहूँ मुनि सनाथ सब कीजै॥'* राजा न देना चाहेंगे इसका कारण आगे राजाके उत्तरहीमें स्पष्ट है।]

नोट—१ *'एहूँ मिस देखौं पद जाई'* तथा *'सो प्रभु मैं देखब भरि नयना'* दो बार देखनेकी लालसासे सूचित करते हैं कि मुनि प्रभुके अनुरागमें भरे हुए हैं और उनका लक्ष्य प्रभुका दर्शन है, जिससे वे कृतार्थ होना चाहते हैं, यज्ञरक्षा एक बहानामात्र है। यथा—**'द्रष्टुं रामं परात्मानं जातं ज्ञात्वा स्वमायया॥'** (अ० रा० १। ४। १) अर्थात्

* एहि मिस देखौं प्रभु पद जाई। को० रा०।

श्रीरामजी अपनी इच्छासे नररूपसे प्रकट हुए हैं यह जानकर विश्वामित्रजी उनका दर्शन करनेके लिये श्रीअयोध्यापुरीमें आये। गीतावलीके पद ४५-४६ से भी इस भावकी पुष्टि होती है। दोहा २०६ देखिये। जनकमहाराजसे भी मुनिने यही कहा है; यथा—*'मख मिस मेरो तब अवध गवनु भो।'* (गी० १। ६४)

टिप्पणी—२ *'ज्ञान बिराग सकल गुन अयना।"'* इति। भाव कि—(क) मुनियोंका धर्म है कि ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त गुणोंको (धारण) करें। श्रीरामजी ज्ञान, वैराग्य समस्त गुणोंके धाम हैं, अतः उनको भर नेत्र देख लेनेसे हमारे वह धर्म पूर्ण हो जायेंगे। उनका दर्शन कर लिया तो ज्ञान, वैराग्य आदि सभी कर चुके। [कथनका भाव कि ज्ञान, वैराग्यादि सभी कर्मोंका फल भगवान् रामजीका दर्शन है; यथा—*'आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥ सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥'* (२। १०७) (भरद्वाजवाक्य)। दर्शन होनेपर इनका करना बाकी नहीं रह जाता। दर्शनसे हमारे ज्ञान, वैराग्य समस्त सद्गुण सिद्ध हो गये] यथा—*'तुम्हरे दरस आस सब पूजी।'* (२। १०७) पुनः, (ख) जो ज्ञानके धाम हैं वे भी ज्ञानसे इन्हींको देखते हैं, यथा—*'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* विरागके अयन हैं, इसीसे वैरागी सब प्रपञ्चसे वैराग्य करके इन्हींको ग्रहण करते हैं। सद्गुणोंके अयन हैं अर्थात् समस्त सद्गुण इन्हींके (प्राप्त्यर्थ) किये जाते हैं। पुनः (ग) मुनि ज्ञान, वैराग्य सकल गुणोंको धारण किये हुए हैं; अतः अपनी भावनाके अनुसार उन्होंने भगवान्‌को इन सबोंका स्थान कहा। यथा—*'जिन्हकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥'* पुनः, [(घ) ज्ञानके अयन हैं, अतः ज्ञानसे हमारे अभीष्टको जानेंगे। वैराग्य-अयन हैं, अतः माता-पिताका त्याग करेंगे। गुण-अयन हैं, युद्धकलामें कुशल हैं; अतः उनको निशिचरोंका भय नहीं है, वे उनका वध करेंगे। (बाबा रामदासजी) पुनः, (ङ) मुनिके मनमें सन्देह था कि आवें या न आवें, उसका निवारण वे स्वयं कर रहे हैं कि वे अवश्य आवेंगे क्योंकि वे *'ज्ञान बिराग सकल गुन अयना'* हैं।]

नोट—२ *'सो प्रभु मैं देखब भरि नयना'* का भाव कि अभीतक ध्यानमें देखते रहे हैं, भर नेत्र देखनेको नहीं मिले, किंतु आज उनको इन नेत्रोंसे भरपूर देखूँगा। देखनेकी अति उत्कण्ठा है; इसीसे देखना दो बार कहा। ☞ इससे प्रकट है कि मुख्य श्रीरामदर्शन है, राक्षसोंका वध गौण है। ☞ यहाँ अपने आचरणसे उपदेश देते हैं कि जहाँ जिस तीर्थमें जाय वहाँ भगवान्‌का दर्शन मुख्य रखे और जो कुछ कार्य हो उसे सामान्य समझे। (पं० रामकुमारजी)

दोहा—बहु बिधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार।
करि मज्जन सरजू* जल गये भूप दरबार॥ २०६॥

अर्थ—बहुत प्रकारसे मनोरथ करते चले जाते हैं, (इसीसे) पहुँचते देर न लगी। श्रीसरयूजलमें स्नान करके राजद्वारपर गये॥ २०६॥

टिप्पणी—१ (क) *'बहु बिधि करत मनोरथ'* इति। बहु विधिके मनोरथ ऊपर कह आये। *'एहूँ मिस देखौं पद जाई', 'करि बिनती आनौं दोउ भाई', 'ज्ञान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना'* ये ही *'बहु बिधि'* के मनोरथ हैं। [नोट—इतने मनोरथ कहकर तब *'बहु बिधि'* पद देकर अन्य भी बहुत प्रकारके मनोरथ जना दिये, जो अन्य ग्रन्थोंमें हैं। यथा—*'आजु सकल सुकृत फल पाइहौं। सुख की सींव अवधि आनंदकी, अवध बिलोकि हौं पाइहौं॥ सुतन्हि समेत दसरथहि देखिहौं प्रेम पुलकि उर लाइहौं। रामचन्द्र मुखचंद्रसुधा छबि नयन चकोरनि प्याइहौं॥ सादर समाचार नृप बूझिहैं हौं सब कथा सुनाइहौं। तुलसी होइ कृतकृत्य आश्रमहिं राम लखन लै आइहौं॥'* (गीतावली ४६)] (ख) *'जात लागि नहिं बार'* इति। मुनि मनोरथोंके आनन्दमें मग्न हैं, शरीर पुलकायमान हो रहा है। अतएव रास्ता कुछ भी जान न पड़ा; वे शीघ्र पहुँच गये। यथा—*'करत मनोरथ जात पुलकि प्रगटत आनंद*

* सरजू—१७०४, १७२१, छ०। सरयू—को० रा०। सरऊ— १६६१, १७६२।

नयो। तुलसी प्रभु अनुराग उमगि मग मङ्गलमूल भयो॥' (गी० १। ४५) ☞विचारोंकी धुनमें मार्ग जान नहीं पड़ता यह देखा ही जाता है; यथा—*'एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आएउ सपदि सिंधु एहि पारा॥'* (५। ४३) [कुछ लोग 'बार' का अर्थ दिन करते हैं। अर्थात् एक दिन भी न लगा। श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि आश्विन कृ० ६ को सिद्धाश्रमसे चले और चौथे दिन नवमीको प्रात:काल श्रीअवध पहुँचे। इस तरह श्रीरामजी इस समय चौदह वर्ष, पाँच मास, पन्द्रह दिनके हैं।]

टिप्पणी—२ *'करि मज्जन सरजू जल'* इति। शास्त्राज्ञा है कि तीर्थमें जाय तो जाते ही तीर्थस्नान करे; यथा—*'करि तड़ाग मज्जन जलपाना। बट तर गएउ हृदय हरषाना॥'* (७। ६३) *'मुदित नहाइ कीन्हि सिव सेवा। पूजि जथा-बिधि तीरथ देवा॥ तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए॥'* (२। १०६) [पुन:, इसी पार सरयूजीमें स्नान करनेका भाव—(१) प्रात:काल पहुँचे, इससे नित्य क्रियासे निवृत्त हो लिये। वा, (२) 'वेदाज्ञा है कि तीर्थ मिलनेपर उसमें प्रथम स्नान किये बिना उसका उल्लंघन न करे। (बै०) वा, (३) श्रमनिवृत्यर्थ स्नान किया। (पं०) वा, (४) किसीके घर जाना हो तो प्रथम ही स्नान-पूजन आदि नित्य क्रियासे निवृत्त हो लेना उचित है, क्योंकि न जाने वहाँ पहुँचनेपर अवसर मिले या न मिले। अतएव स्नान करके गये।]

टिप्पणी—३ *'गये भूप दरबार'* इति। दरबार=द्वार।=वह द्वार वा फाटक जहाँपर डेवढ़ी लगती है, बिना इत्तला और आज्ञाके कोई भीतर जाने नहीं पाता। (मा० त० वि०) यथा— *'प्रमुदित पुरनरनारि सब सजहिं सुमंगलचार। एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार॥'* (अ० २३); अर्थात् राजद्वारपर इतनी भीड़ है कि एक ही एक करके लोग भीतर जा या बाहर निकल सकते थे। पुन: यथा— *'गएउ सभा दरबार तब सुमिरि रामपदपंकज॥* (६। १८) *तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहि जनावा॥ सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा॥'* (लं० १९) अर्थात् सभाके द्वारपर अंगदने पहुँचकर ड्योढ़ीदारको भेजा कि रावणको खबर कर दो। यही अर्थ सत्योपाख्यान और वाल्मीकीय आदि ग्रन्थोंसे भी पुष्ट होता है। सत्योपाख्यान उ० ४ में लिखा है कि **'साकेतनगरं दृष्ट्वा मुमुदे कौशिको मुनि:। राजद्वारं समागत्य ददर्श महतीं श्रियम्॥ २॥ द्वारपाल: समागत्य प्रणेमु: शिरसा मुनिम्। मुनिना प्रेषिता: सर्वे राजानं च विजिज्ञपु:॥ ३॥ राजा दशरथ: श्रुत्वा वसिष्ठादिभिरन्वित:।'** अर्थात् राजद्वारपर मुनि आये, द्वारपालोंने प्रणाम किया और जाकर राजाको खबर दी, तब राजा वसिष्ठादिसहित लेने आये। वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि **'अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनि:। स राज्ञो दर्शनाकांक्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह।'** अर्थात् द्वारपालोंसे राजाके दर्शनकी आकांक्षा प्रकट की। और नीति भी यही है, सनातन परिपाटी यही है कि द्वारपालसे बिना खबर कराये भीतर नहीं जाना चाहिये। उसी नीतिका पालन मुनिने यहाँ किया। पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'सरयूजलमें स्नान करके मुनि राजाके दरबारमें गये', यह अर्थ कहनेमें अगली चौपाईसे शङ्का होती है कि 'जब दरबारमें गये तो राजाको देखना चाहिये था, सुननेका प्रयोजन नहीं है। इसलिये वे ऐसा अर्थ करते हैं कि पहले पदमें विश्वामित्रका वर्णन है और दूसरेमें यह कि राजा जिस समय सरयूजीमें स्नान करके दरबारमें पहुँचे तब मुनिके आगमनको सुना।' पं० ज्वालाप्रसादजीने भी यह अर्थ लिखा है। परन्तु यह अर्थ असङ्गत है और 'दरबार' का अर्थ न समझनेके कारण किया गया है ऋषिके आगमनके प्रसङ्गमें राजाके प्रसङ्गका अर्थ अयोग्य है। इसी प्रकार कुछ लोगोंने यह अर्थ किया है कि 'दरबारकी ओर चले'। परन्तु उपर्युक्त प्रमाणोंसे ऐसे अर्थोंकी आवश्यकता ही नहीं रहती।

मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गएउ लै बिप्र समाजा॥ १॥
करि दंडवत मुनिहि सनमानी। निज आसन बैठारेन्हि आनी॥ २॥

अर्थ—राजाने जब मुनिका आगमन (आना) सुना तब विप्रसमाजको साथ लेकर मिलने गये। १॥ दण्डवत् प्रणाम करके मुनिका आदर-सत्कार करते हुए उन्हें लाकर अपने आसनपर बिठाया॥ २॥

टिप्पणी—१ *'मुनि आगमन सुना जब राजा।'''''* इति। (क) विश्वामित्रजीके द्वारपर ठहरनेका एक कारण यह भी है कि राजा द्वारपर उनको आदरपूर्वक ले जानेके लिये आवें, जिसमें राजाकी भक्ति (कायम)

रहे, उनके भक्तिकी प्रशंसा हो और ऋषिका उचित सम्मान हो, द्वारपालपर क्रोध न हो। (ख) *'लै बिप्र समाजा'* इति। विश्वामित्रजी विप्र हैं, ब्रह्मर्षि हैं, इसीसे राजा विप्रसमाजको साथ लेकर मिलने गये। यथा—*'संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुर ग्याति। चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ एहि भाँति॥'* (२१४) श्रीजनकजी महाराजके यहाँ जब मुनि मिलने गये तब विश्वामित्रजी अकेले न थे। उनके साथ राजकुमार श्रीरामलक्ष्मणजी भी थे। इसीसे वहाँ श्रीजनकजी महाराज मन्त्रियों, ब्राह्मणों, सुभटों और अपने ज्ञातिवर्गके लोगोंको भी साथ लेकर मिलने गये। यहाँ केवल मुनि हैं, अतएव केवल विप्रसमाजको साथ लेकर राजा मिले। (किसीका मत है कि 'उस समय राजा पूजामें थे जब आगमन सुना, उस समय वहाँ विप्रमण्डली उपस्थित थी, अतः उसीको साथ ले लिया।' वाल्मीकीयके अनुसार राजा उस समय राजभवनमें गुरु वसिष्ठ, मन्त्रियों और कुटुम्बियोंसे पुत्रोंके विवाहकी सलाह कर रहे थे कि विश्वामित्रजीने आकर द्वारपालोंसे अपने आगमनकी सूचना भेजवायी। (सर्ग १८। ३६—३९)—यह तो अवश्य ही है कि एक जातिवाला अपने सजातीयको देखकर अति प्रसन्न होता है, मुनिके आदर और प्रसन्नताके लिये मुनिसमाजका लेना योग्य ही है।

टिप्पणी—२ *'करि दंडवत मुनिहि सनमानी। ....'* इति। (क) *'दंडवत'* शब्द देकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम सूचित किया। दण्डवत् करना भी सम्मान है और भी सम्मान आगे कहते हैं। *'निज आसन बैठारेन्हि आनी'* यह भी सम्मान है। यथा—*'सकल बरात जनक सनमानी। दान मान बिनती बर बानी॥'* तथा यहाँ दण्डवत्से सम्मान किया। [वाल्मीकिजी लिखते हैं कि राजा प्रसन्नतापूर्वक उनकी अगवानीको चले, जैसे ब्रह्माकी अगवानी इन्द्र कर रहे हों। राजा देखकर प्रसन्न हुए और मुनिको अर्घ्य दिया—'**प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत्।**'(१। १८। ४४)—ये सब भाव 'सनमानी' से सूचित कर दिये गये।] (ख) *'निज आसन'* (अर्थात् राज्यसिंहासन) पर बैठानेका दूसरा भाव यह है कि यह समस्त राज्य आपका ही है, हम आपके सेवक हैं। विवाहके बाद बिदाईके समय जो कहा है *'नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी॥'* वही भाव यहाँ *'निज आसन बैठारेन्हि'* मात्र कहकर सूचित कर दिया है।

चरन पखारि कीन्ह अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥ ३॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिबर हृदय हरष अति पावा॥ ४॥
पुनि चरननि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥ ५॥

शब्दार्थ—मेलना=डालना, रखना। यथा—*'मेली कंठ सुमन की माला'*, *'पदसरोज मेले दोउ भाई॥'*

अर्थ—चरणोंको धोकर उनकी बहुत अर्थात् भलीभाँति षोडशोपचाररीतिसे पूजा की (और कहा—)मेरे समान भाग्यवान् पुण्यवान् वा सुकृती आज दूसरा कोई नहीं है॥ ३॥ (उन्हें) अनेक प्रकारके भोजन कराये। मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने हृदयमें बहुत हर्ष प्राप्त किया॥ ४॥ फिर राजाने चारों पुत्रोंको (मुनिके) चरणोंपर डाल दिया अर्थात् प्रणाम कराया। रामचन्द्रजीको देखकर मुनि देहकी सुध भूल गये॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'अति पूजा'* इति। षोडश प्रकारसे पूजा की। उसके कुछ अंग यहाँ लिखे अर्थात् *'आनी'* से आवाहन, *'आसन बैठारेन्हि'* से आसन, *'चरन पखारि'*, से पाद्य, *'भोजन करवावा'* से नैवेद्य; ये चार अङ्ग यहाँ कहे गये। शेष सब अङ्ग *'अति पूजा'* पदसे जना दिये। महामुनि स्वयं कृपा करके दर्शन देने आये हैं, यह अपना महत्भाग्य समझ 'अति' पूजा की। ४५ (५-६) भी देखिये।

टिप्पणी—२ *'मो सम आजु धन्य नहिं दूजा'* इति। (क) *'आजु'* और *'न दूजा'* से जनाया कि मुनि इसके पहले आजतक किसी राजाके यहाँ न गये थे और न चक्रवर्ती महाराजके यहाँ ही कभी आये थे जैसा राजाके *'मुनि अस कृपा न कीन्हिउ काऊ'* इन वचनोंसे स्पष्ट है। आज ही प्रथम-प्रथम आये हैं इसीसे *'आजु धन्य.....'* कहा। (ख) साधुके आगमनसे, साधु-सेवा इत्यादिसे गृहस्थ धन्य होते ही हैं, यथा—*'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम*

दीन्ह॥' (श्रीभुशुण्डिजी), *'बड़े भाग पाइय सतसंगा।'* और फिर महामुनि ब्रह्मर्षि विश्वामित्रजीका आगमन! इस भाग्यकी बड़ाई कौन कर सकता है!! [(ग)*'नहिं दूजा'* इति। श्रीजानकीमङ्गलमें भी ऐसा ही कहा है। यथा—*'कहेउ भूप मोहि सरिस-सुकृत किए काहु न॥ १॥ काहू न कीन्हेउ सुकृत सुनि मुनि मुदित नृपहि बखानहीं।'* *'नहिं दूजा'* कहनेका भाव कि जो विश्वामित्रजी किसीके यहाँ नहीं जाते वे ही आज श्रीराम-लक्ष्मणजीको लेनेके लिये दशरथजीके यहाँ आये और जनकमहाराजके यहाँ जायेंगे सो भी रामकार्यहीके लिये। ☞ इस प्रकार कथनकी शिष्ट पुरुषोंमें रीति भी है। गीतावलीमें भी ऐसा ही कहा है, यथा—*'देखि मुनि! रावरे पद आज। भयउँ प्रथम गनती महँ अब ते हौं जहँ लौं साधुसमाज।'* (पद ४९) पुनः, *'मोसम आजु धन्य नहिं दूजा'* का भाव कि मेरा जन्म आज सफल हो गया और मेरा जीवन धन्य हुआ क्योंकि आज मैंने उस महात्माका दर्शन पाया है जो प्रथम राजर्षि थे और जिन्होंने तपस्याद्वारा अपना गौरव फैलाया, ब्रह्मर्षि पदवीको प्राप्त किया। आपका पवित्र आगमन मेरे लिये एक आश्चर्य है। आपके शुभदर्शनसे मैं और यह स्थान पुण्यतीर्थ क्षेत्र हो गये। यथा— **'अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम्॥ पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः॥ ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया। तदद्भुतमभूद्विप्र पवित्रं परमं मम॥ शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात्प्रभो'** (वाल्मी० १। १८। ५३—५६) पुनश्च यथा— **'कृतार्थोऽस्मि मुनीन्द्राहं त्वदागमनकारणात्॥ ३॥ त्वद्विधा यद्गृहं यान्ति तत्रैवायान्ति सम्पदः।'** (अ० रा० १। ४) **'यथामृतस्य सम्प्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके॥ ५०॥ यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य वै। प्रणष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः॥ ५१॥ तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने।'** (वाल्मी० १। १८) अर्थात् आप-ऐसे महात्मा जहाँ जाते हैं वहाँ सब सम्पत्तियाँ आ जाती हैं, अतः मैं आज कृतकृत्य हो गया; जैसे किसीको अमृत मिल जाय, सूखे देशमें पानी पड़ जाय, पुत्रहीनको पुत्र मिल जाय, खोई हुई वस्तु मिल जाय और जैसे पुत्रविवाह आदिमें हर्ष होता है, मैं आपका आगमन वैसा ही समझता हूँ। ये सब भाव यहाँ जना दिये।]

टिप्पणी—३ (क) *'बिबिध भाँति'* अर्थात् भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य चारों प्रकारके भोजन। यथा—*'चारि भाँति भोजन श्रुति गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई॥ छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती॥'* (ख) *'मुनिबर हृदय हरष अति पावा'* इति। हर्ष कहकर जनाया कि भोजन बहुत अच्छे बने हैं। पुनः दूसरा भाव कि राजा विप्रसमाज लेकर उनका स्वागत करने आये, उनके योग्य उनका पूजन-सत्कार किया, अन्तःपुरमें आसन दिया, षट्रस चारों प्रकारके भोजन कराये, इत्यादिसे राजाका प्रेम और श्रद्धा अपने प्रति देखकर उनको अपने मनोरथकी पूर्ति, अपने कार्यकी सिद्धिमें विश्वास हुआ; अतः हर्षित हुए। (ग) भोजनकी प्रशंसा मुखसे न की क्योंकि शास्त्रमें व्यंजनकी प्रशंसा करना मना है।

टिप्पणी—४ (क) *'पुनि चरननि मेले सुत·········'* यहाँ राजाकी चतुरता दिखाते हैं कि जब मुनिके हृदयमें अत्यन्त हर्ष हुआ तभी पुत्रोंको लाकर प्रणाम कराया जिसमें इसी आनन्द-प्रसन्नतामें पुत्रोंको शुभाशीर्वाद दे दें। 'पुनि' अर्थात् भोजनके बाद प्रसन्न देखकर। (ख) *'राम देखि मुनि देह बिसारी'* इति। भाव कि श्रीरामजी सब भाइयोंमें अधिक सुन्दर हैं, यथा—*'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'* ☞ देह बिसारनेका स्वरूप कवि आगे प्रत्यक्ष दिखाते हैं कि प्रणाम करनेपर पुत्रोंको आशीर्वाद देना चाहिये था, (यथा— *दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति रीति कहि जाती॥'* (३६०। ९) और जो बहुत तरहके मनोरथ प्रथम करते आये थे कि *'सुतन्ह सहित दसरथहि देखिहौं प्रेम पुलकि उर लाइहौं',* सो कुछ न किया, क्योंकि देहकी खबर ही नहीं है। [पाँडेजी लिखते हैं *'बिरति बिसारी'* अर्थात् 'वैराग्यको बिसराके रागी हो गये। अर्थात् रामको देखकर गृहस्थाश्रमको धन्य माना।']

नोट—१ (क) यहाँ वात्सल्यरसमें मग्न होना दिखाया है, क्योंकि इस रसका मुख्य स्थान मुख ही है, यथा—*'जननी सादर बदन निहारे।'* श्रीजानकीमङ्गलमें गोस्वामीजीने इस दशाका वर्णन यों किया है—*'रामहि भाइन्ह सहित जबहि मुनि जोहेउ। नयन नीर तनु पुलक रूप मन मोहेउ॥ ११॥ परसि कमल कर सीस हरषि हिय लावहिं। प्रेम पयोधि मगन मुनि पार न पावहिं॥ मधुर मनोहर मूरति सादर चाहहिं। बार बार*

दसरथ के सुकृत सराहहिं॥ १२॥'—ये सब भाव *'देह बिसारी ....'*, *'भए मगन'* से सूचित किये। (ख) *'राम देखि ... बिसारी'* में भाव यह है कि देखा चारोंको पर श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नको देखकर आनन्द हुआ और श्रीरामजीको देखा तब प्रेमावेश आ गया। (वै०) अथवा, तीनों भाइयोंको देखनेपर परमानन्द प्राप्त हुआ, पर श्रीरामजीको देखनेपर देहाध्यास भी जाता रहा। (रा० प्र०)

भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥ ६॥
तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ॥ ७॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा॥ ८॥

अर्थ—मुखकी शोभा देखते ही (उसमें ऐसे) मग्न हो गये मानो चकोर पूर्णचन्द्रको देखकर लुभा गया हो॥ ६॥ तब राजाने मनमें प्रसन्न होकर (ये) वचन कहे—'हे मुनि! ऐसी कृपा (तो) आपने कभी एवं किसीपर भी नहीं की (जैसी आज मुझपर की)॥ ७॥ किस कारणसे आपका आगमन हुआ? कहिये, उसे (पूरा) करनेमें देर न लगाऊँगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'भए मगन देखत मुख सोभा।'* भाव कि मुखकी शोभा अत्यन्त भारी है, यथा—*'मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥'* इसीसे देखकर मग्न हो गये। (ख) *'जनु चकोर पूरन ससि लोभा'* इति। चकोरकी उपमा देकर जनाया कि एकटक टकटकी लगाये देख रहे हैं; यथा—*'एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद मुखचंद्र चकोरा॥'* (ग) श्रीरामचन्द्रमुखकी उपमा पूर्णशशिकी है, खण्डित चन्द्रकी नहीं। जैसे चकोर नेत्रद्वारा अमृत पान करता है, वैसे ही श्रीरामजीके मुखचन्द्रकी शोभारूपी अमृतका मुनि अपने नेत्रोंद्वारा पान करते हैं; यथा—*'रामचंद्र मुखचंद्र छबि लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल प्रेम प्रमोद न थोर॥'* (घ) ☞गीतावलीमें कहे हुए *'रामचंद्र मुखचंद्र सुधाछबि नयन चकोरन्ह प्याइहों'* इस मनोरथको यहाँ चरितार्थ किया है।

टिप्पणी—२ *'तब मन हरषि बचन कह राऊ। ....'* इति। (क) तब अर्थात् पूजन, भोजन और पुत्रोंके प्रणाम और श्रीरामदर्शनके बाद आगमनका कारण पूछा। उत्तम लोगोंकी यही रीति है। यथा—*'गुर आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥ सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥ गहे चरन सियसहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी॥ ...... आयसु होइ सो करौं गोसाईं। सेवक लहइ स्वामि सेवकाईं॥'* (२। ९) (ख) *'मन हरषि'* का भाव कि जिस उत्साहसे पूजन किया—*'चरन पखारि कीन्हि अति पूजा'* जिस उत्साहसे भोजन कराया, उसी उत्साहसे हर्षपूर्वक कार्य करनेको कहते हैं (वा, अपने पुत्रोंपर कृपादृष्टि और अनुराग देख हर्ष)। (ग) *'मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ'* इस कथनसे पाया गया कि राजा ऐसी कृपाके सदा अभिलाषी रहते हैं जैसा कि विश्वामित्रजीकी बिदाईके समयके वचन-से स्पष्ट है; यथा—*'करब सदा लरिकन्ह पर छोहू। दरसन देत रहब मुनि मोहू॥'* (१। ३६०)

टिप्पणी—३ *'केहि कारन आगमन तुम्हारा'* इति। मुनि पूर्व कभी नहीं आये, अब जो आये हैं तो अवश्य किसी कारणसे ही आये होंगे, यही समझकर कारण पूछा। पुनः, कारण पूछनेका और भाव कि राजाने विचार किया कि इनको किसी पदार्थकी इच्छा नहीं हो सकती, ये पूर्णकाम हैं, अतएव जिस कारणसे आये हों वही उनसे पूछकर करना मुझे उचित है। (यह भाव श्रीजानकीमङ्गलसे पुष्ट होता है। यथा—*'तुम्ह प्रभु पूरनकाम चारि फलदायक। तेहिते बूझत काजु डरौं मुनिनायक॥'* १३) वे जानते हैं कि विश्वामित्र मंगन नहीं हैं; इसीसे माँगनेको न कहकर आगमनका कारण पूछा। और, जब विश्वामित्रजीने कहा कि मैं याचने आया हूँ तब राजाने माँगनेको कहा; यथा—*'माँगहु भूमि धेनु धन कोसा ....'* (ख) *'कहहु सो ....'* अर्थात् आपके कहने भरकी देरी है, करनेमें देर न लगेगी। (ग) ☞ यहाँतक राजाको मन, वचन और कर्म तीनोंसे कार्य करनेमें अनुकूल वा तत्पर दिखाया। मनमें हर्ष हुआ, वचनसे आगमनका कारण पूछा और विलम्बरहित कार्य करनेको कहा।

नोट—१ मिलानके श्लोक—'**यदर्थमागतोऽसि त्वं ब्रूहि सत्यं करोमि तत्॥**' (अ० रा० १। ४। ४) '**ब्रूहि यत् प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति।**······· **कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि कौशिक। कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान्मम॥**' (वाल्मी० १। १८) अर्थात् आप जिस कामके लिये पधारे हों वह बतलाइये। आप किसी बातका संकोच न करें। मैं आपके सब कार्य करूँगा क्योंकि आप मेरे देवता हैं। '*करत न लावौं बारा*' में वाल्मीकीय और अ० रा० के भाव आ गये कि मैं सत्य कहता हूँ, प्रतिज्ञा करता हूँ, आप किंचित् संकोच न करें, देवता जिसमें प्रसन्न हो वही उपासकका कर्तव्य है, अतएव जिसमें आपकी प्रसन्नता होगी वही मैं करूँगा। इत्यादि।

असुर समूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आएउँ नृप तोही॥ ९ ॥
अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा॥ १०॥

शब्दार्थ—**जाचन** (याचना)=प्राप्त करनेके लिये विनती करना; प्रार्थना करना; माँगना। सनाथ=कृतार्थ, यथा—'*कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ। जौ कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥*' (४। ७)

अर्थ—(मुनि बोले—) हे राजन्! मुझे निशाचरवृन्द सताते हैं। (इसलिये) मैं तुमसे (कुछ) याचना करने आया हूँ॥ ९॥ छोटे भाई (लक्ष्मण) सहित रघुनाथ श्रीरामचन्द्रजीको मुझे दो। निशाचरोंके मारे जानेसे मैं सनाथ हो जाऊँगा॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) '*असुर समूह सतावहिं*' कहकर अत्यन्त दु:खका होना सूचित किया। ['*करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥*' (२०६। ४) के सब भाव '*सतावहिं*' में हैं।]'*सतावहिं मोही*' का भाव कि यद्यपि राक्षसोंके सतानेसे सभी मुनियोंको दु:ख होता है; यथा—'*देखत जग्य निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥*' तथापि सब मुनियोंके दु:खको विश्वामित्रजी अपना दु:ख मानते हैं, क्योंकि ये महामुनि हैं, मुनिवर्य हैं, मुनिराज हैं, इसीसे '*मोही*' कहा। (ख) '*जाचन आएउँ*' दानी लोग याचकको 'नहीं' नहीं करते, इसीसे कहा कि याचना करने आया हूँ; यथा—'*सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ॥ माँगौं भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करै कुकरमू॥ अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी॥*' (२। २०४) (ग) '*नृप*' संबोधनका भाव कि गरीबके यहाँसे चाहे याचक विमुख लौट जाय पर राजाके यहाँसे तो कदापि विमुख न जाना चाहिये। पुन:, भाव कि हमारा यज्ञ सिद्ध कराके नरोंका पालन करो। यज्ञसे मनुष्योंका पालन इस तरह होता है कि यज्ञसे मेघ बनते हैं जिससे वर्षा होती है, फिर जलसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजा पलती है। यथा—'**अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥**' (गीता ३। १४) (घ) ☞ यहाँ अपने लिये 'मैं' और राजाके लिये 'तोही' एकवचन शब्दोंका प्रयोग करके जनाया कि मुझ-सा याचक तुमको न मिला होगा और न मिलेगा कि जिसने कभी किसीसे याचना न की हो और सुकृती दाताओंमें भी तुम एक ही हो, तुम्हारी समताको कोई पहुँच नहीं सकता कि जिसके यहाँ मैं याचक बनकर आया। [यथा—'*भली कही भूपति त्रिभुवनमें को सुकृती सिर ताज।*' (गी० १। ४७) '**सदृशं राजशार्दूल तवैव भुवि नान्यतः।**' (वाल्मी० १। १९। २)]

टिप्पणी—२ (क) '*अनुज समेत देहु*' इति। अनुज तो भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनों ही हैं परंतु (पायसके भागोंके बाँटे जानेके क्रमसे श्रीकौसल्याजीके हाथसे दिये हुए पायससे होनेके कारण श्रीलक्ष्मणजीको अनुज प्राय: सर्वत्र कहा गया है। इसी प्रकार श्रीशत्रुघ्नजीको प्राय: सर्वत्र भरतानुज कहा गया।) 'अनुज' शब्द श्रीलक्ष्मणजीमें रूढ़ि है, इसीसे इससे यहाँ लक्ष्मणजीका बोध होगा। (ख) लक्ष्मणसहित रामजीको माँगनेका भाव यह है कि इन्हीं दोनों भाइयोंके हाथसे इन राक्षसोंकी मृत्यु है। और मुनि त्रिकालज्ञ हैं, जानते हैं कि हमारे यज्ञकी रक्षा सब कल्पोंमें श्रीरामजी लक्ष्मणसमेत करते आये हैं। अत: दोनोंको माँगा। [और कुछ लोगोंके मतसे लक्ष्मणजीको माँगनेके कारण ये हैं कि 'लक्ष्मणजी भी भूमिभार उतारनेके लिये अवतरे हैं, यथा—'*सेष सहस्त्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमिभय टारन॥*' (१७। ७) वा, मारीच

भी अनुजसमेत है, वा दोहीसे काम चल जायगा अतः इन्हीं दोको माँगा।] सेना नहीं माँगी, क्योंकि जानते हैं कि सेना राक्षसोंके हाथ मार डाली जायेगी, हमको उसका पाप लगेगा। (ग) *'निसिचर बध ......'* । मुनिको निश्चय है कि निशाचरोंका वध होगा, इसीसे उनका वध होना कहा। वधसे यज्ञ सिद्ध होगा। और यज्ञकी सिद्धिसे मुनि अपनेको कृतार्थ मानते हैं। ['सनाथ' होनेमें दूसरा भाव यह है कि अबतक मैं अनाथ था, कोई मेरी रक्षा करनेवाला न था, ये जाकर असुर-समूहको मारेंगे तब और भी सब रावणके भेजे हुए राक्षस समझ जायेंगे कि हमारा (विश्वामित्रका) भी कोई भारी सहायक स्वामी है, अतएव फिर कोई न सतायेगा। बिना रक्षकके अनाथ जानकर मुझे सताते हैं।]

दो०—देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अज्ञान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं* इन्ह कहँ अति कल्यान॥ २०७॥

शब्दार्थ—**मोह** =स्नेह; यथा—*'साँचेहु उनके मोह न माया'* । =वैचित्य, अन्यमनस्कता, चित्तकी भ्राँति।

अर्थ—राजन्! प्रसन्न मनसे दो, मोह और अज्ञानको छोड़ो। तुमको धर्म, सुयश और प्रभुता वा ऐश्वर्य प्राप्त होगा और इनका परम कल्याण होगा॥ २०७॥

नोट—१ *'देहु भूप मन हरषित ......'* इति। इन वचनोंसे स्पष्ट बोध होता है कि *'अनुज समेत देहु रघुनाथा'* यह सुनते ही राजाके मुखकी द्युति कुम्हला गयी। राजाकी दशा गीतावलीमें इस प्रकार वर्णित है—*'रहे ठगिसे नृपति सुनि मुनिवरके बयन। कहि न सकत कछु रामप्रेमबस पुलक गात भरे नीर नयन॥'* (पद ४९) यह चेष्टा देख मुनि प्रथम ही उनके 'नहीं' करनेके पूर्व ही कहने लगे कि दानमें हर्ष होना चाहिये, यथा—*'तुलसी जे मन हरष नहिं ते जग जीवत जाय'*। *'देहु हरषित'* अर्थात् जैसे हर्षित मनसे तुमने देनेको कहा था, यथा—*'तब मन हरषि बचन कह राऊ॥ केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लाउब बारा॥'* वैसे ही हर्षित मनसे दो।

नोट—२ *'तजहु मोह अज्ञान'* अर्थात् तुम इनका स्वरूप नहीं जानते, इनका ऐश्वर्य नहीं जानते; इसीसे तुमको मोह है, स्नेह और ममत्ववश होकर समझते हो कि ये राक्षसोंके सामने कैसे जायेंगे, इत्यादि। गीतावली पद ४८ से इसका भाव स्पष्ट हो जाता है, यथा—*'डरपत हौ साँचे सनेह बस सुतप्रभाव बिनु जाने। बूझिये बामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने॥ रिपु रन दलि मख राखि कुसल अति अलप दिनन्हि घर ऐहैं। तुलसिदास रघुबंसतिलक की कबिकुल कीरति गैहैं॥'* यह मोह और अज्ञान आगेकी चौपाइयोंसे भी स्पष्ट है।

नोट—३ *'धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं'* इति। अर्थात् हर्षपूर्वक इनको देनेसे तुम्हारे धर्मकी प्रशंसा होगी, कि राजा बड़े ही धर्मज्ञ हैं, धर्मात्मा हैं, बातके धनी हैं, अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रोंको दे दिया। [यथा—**'यदि ते धर्मलाभं तु यशश्च परमं भुवि। स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि॥'** (वाल्मी० १। १९)] पुनः मुनियोंकी रक्षा और यज्ञादि धर्मके कार्य हैं, इनसे धर्मकी रक्षा और प्रचार तथा देवताओंका उपकार होगा।—यह धर्मकी प्राप्ति होगी। पुनः, 'धर्म सुयश' अर्थात् स्वार्थ-परमार्थ दोनों सिद्ध होंगे। याचकको संतुष्ट किया, अपने वचनका पालन किया, ऐसे पुरुष संसारमें विरले ही कोई होते हैं, यह यश होगा। *'मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं'* यह यहाँ चरितार्थ होगा।

पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि 'जबसे राजा दशरथने शब्दवेधी बाणसे श्रवणका वध किया तबसे उनके यशमें धब्बा लग गया था। इसीसे जनकजीने इनको निमन्त्रित न किया। मुनिके साथ जानेसे राजकुमारोंको सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और धनुषके टूटनेपर चक्रवर्ती महाराज भी सादर बुलाये जायेंगे। पूर्वका कुयश मिटकर त्रैलोक्यमें सुयश फैलेगा।'

स्वयंवरमें राजाओंको बुलानेकी क्या रीति थी यह जाने बिना यह मान लेना कि निमन्त्रण नहीं गया

* कों—१७२१, छ०, १७०४। कहँ—को० रा०। कौं—१६६१, १७६२।

था कुछ उचित नहीं जान पड़ता। प्रथम तो यह प्रमाण होना चाहिये कि औरोंको निमन्त्रण गया था, इनको नहीं गया। तब न जानेका कारण देखना चाहिये। सत्योपाख्यानमें कहा है कि राजा जनकने पृथ्वीभरके सब राजाओं तथा सब लोकोंमें अपनी प्रतिज्ञा घोषित कर दी थी। यथा—'**जनकस्तु तदा राजा श्रावयामास स्वं पणम्॥ ३५॥ पृथिव्यां सर्वलोकेषु नरदेवेषु भूरिशः॥**' यह घोषणा सुनकर बहुत-से राजा जनकपुर आये। यथा—'**तच्छ्रुत्वा भूभुजः सर्वे ह्याजग्मुर्मिथिलां पुरीम्॥ ३६॥**' (सत्य० उ० २) श्रीविश्वामित्रजीसे जानकर कि श्रीराम-लक्ष्मणजी चक्रवर्ती महाराजके पुत्र हैं, राजा जनकने अपनेको परम धन्य माना है, इक्ष्वाकुकुलमें इनका जन्म जानकर इनको इक्ष्वाकुमहाराजके समान जाना और वे बोले कि ये लोग इक्ष्वाकुकुलके हैं और हम लोग उस कुलके किंकर हैं, ये हमारे पूज्य हैं, यह घर उन्हींका है। इत्यादि। यथा— '**इक्ष्वाकुकुलजन्मत्वादिक्ष्वाकुसदृशाविमौ। कुले तस्मिन्निमौ जातौ पूजनीयौ न संशयः॥ ९॥ इक्ष्वाकूणां गृहं चैतद् वयं तेषां च किंकराः॥ १७॥**' (सत्य० उ० ६) इससे स्पष्ट है कि यदि दशरथजी कलंकित होते तो 'राजाधिराज' दशरथजीके पुत्र जानकर कभी जनकजी ऐसे आनन्दमें मग्न न होते। अभी तो उन्होंने इनके गुण जाने भी नहीं हैं, केवल इतना ही जाना था कि राजाधिराजके पुत्र हैं। मानसमें भी निमन्त्रणकी बात कहीं नहीं कही गयी। उसमें भी यही कहा है कि '*दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥*' (२५१। ७)

वाल्मीकीयमें स्पष्ट कहा है कि पुत्रेष्टि-यज्ञमें श्रीजनकमहाराज तथा श्रीरोमपादजी आदि सब निमन्त्रित **थे** और सब उस यज्ञमें श्रीदशरथजीके यहाँ आये थे। यदि कलंककी बात होती तो ये लोग क्यों जाते? फिर जो कलंक कहा जाता है वह भी बे-सिर-पैरका है, श्रवणने स्वयं बताया था कि 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, मेरी माता शूद्रा है और पिता वैश्य। आप ब्रह्महत्याका भय न करें। यथा—'**ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम्। शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप॥**' (वाल्मी० २। ६३। ५०, ५१)

प्र० स्वामी भी मेरे उपर्युक्त विचारोंसे सहमत हैं और कहते हैं कि जनकमहाराजने किसीको निमन्त्रण नहीं दिया, यह मानसके '*दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥*' इस वाक्यसे भी सिद्ध होता है। जो प्रण ठाना था उसे सुनकर राजा लोग आये। यदि निमन्त्रण होता तो 'सुनि' न कहते। इससे सिद्ध होता है कि डुगडुगी, डौंड़ी फिरवाकर या और किसी प्रकार सर्वत्र प्रकट कर दिया था।

श्रीदशरथजी क्यों न गये? अब यह प्रश्न रह जाता है। इसका उत्तर यह हो सकता है कि राजा परम धर्मात्मा हैं। पुत्रके लिये व्याह किया जाता है कि पितृ प्रसन्न हों, राज्य नष्ट न हो। अब चार पुत्र हैं ही, और साठ हजार वर्षकी अपनी आयु हो चुकी है, अतः अब उनकी कोई अभिलाषा रह न गयी। अतः न गये। दूसरे राजा जनक अपने मित्र हैं, उनकी कन्या अपनी कन्याके तुल्य है, अतः न गये कि धनुष तोड़नेसे पापका भागी होना पड़ेगा। इत्यादि। (और लड़के कोमलाङ्ग हैं तथा उनकी भावनानुसार धनुष तोड़नेमें असमर्थ हैं, यह जानकर उनको भी न भेजा।)

नोट—४ '***प्रभु***' इति। यज्ञरक्षा, अहल्योद्धार, ताड़का-सुबाहु आदिके वध, धनुष-भङ्ग और परशुरामगर्वदलनसे राजाकी महिमा बढ़ेगी। इसी 'प्रभुत्व' की ओर यहाँ लक्ष्य है। पं० रामकुमारजी 'प्रभु' को भी सम्बोधन मानते हैं। मुनि 'प्रभु' सम्बोधन करेंगे इसमें संदेह करके अधिक टीकाकारोंने उसका अर्थ 'ऐश्वर्य' किया है। प० प० प्र० पं० रामकुमारजीसे सहमत हैं। वे भी प्रभुका अर्थ नृप, स्वामी ही लेते हैं—'**स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता। अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृदोऽधिपः**' इत्यमरे।

नोट—५ '*इन्ह कहँ अति कल्यान*' इति। अर्थात् आपके धर्मसे इनका परम कल्याण होगा—'*बाढ़ें पूत पिताके धर्मन*'। विजय, कीर्त्ति और विवाह आदि सभी प्राप्त हो जायँगे। (पं० रा० कु०) पुनः ऐसा भी कहा जाता है कि राजाके सम्मुख मुनि बैठे हुए उन्हींको 'भूप' सम्बोधन देकर कह रहे हैं कि 'तुम्ह कों' अर्थात् तुमको तो धर्मादि प्राप्त होंगे और अँगुली या नेत्रके विलाससे चारों पुत्रोंकी ओर देखते हुए (क्योंकि चारों वहीं विद्यमान हैं) कहते हैं कि '*इन्ह कहँ अति कल्यान*' होगा। तात्पर्य कि हमारे साथ तो दो ही जायँगे, इनका विवाह तो होगा ही पर शेष दो जो यहाँ रह जायँगे उनका भी विवाह हो जायगा। किसीकी चिन्ता तुम्हें न करनी पड़ेगी। रामायणोंसे पता चलता है कि राजकुमारोंके बड़े होनेपर राजाको चिन्ता हुई थी कि इनका विवाह कैसे

हो। चक्रवर्ती राजा कहीं याचना करने नहीं जाते। वाल्मीकीय अ० १८ में स्पष्ट ही कहा है कि राजा उस समय पुरोहितों और बन्धुवर्ग तथा मन्त्रियोंके साथ पुत्रोंके विवाहके सम्बन्धमें विचार कर रहे थे—'**अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति॥ ३७॥ चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः।**' वाल्मी० में मुनिने कहा है कि मैं इनका बहुत प्रकारसे कल्याण करूँगा—'**श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः॥**'(१। १९। १०) ☞उस कल्याणसे इनकी ख्याति तीनों लोकोंमें होगी। अतः 'अति कल्यान' पद दिया।

सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी॥ १॥
चौथें पन पाएउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥ २॥

अर्थ—मुनिके अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर राजाका हृदय काँप उठा और उनके मुखकी कान्ति मलिन पड़ गयी॥ १॥ (वे बोले-)हे विप्र! मैंने चौथेपनमें चार पुत्र पाये हैं, आपने विचारकर वचन नहीं कहे॥ २॥

टिप्पणी—१'***सुनि राजा अति अप्रिय बानी।***' इति। '***अति अप्रिय***' का भाव कि'***अनुज समेत देहु रघुनाथा***' ये वियोगमात्रके वचन 'अप्रिय' लगे, उसपर '***निसिचर बध मैं होब सनाथा***' (अर्थात् निशाचरोंसे युद्ध करनेकी बात जो कही उससे ये और वे दोनों वचन) 'अति अप्रिय' लगे। (ख) प्रथम राजाके मन, वचन और कर्म तीनों शोभित थे, तीनोंमें प्रसन्नता प्रकट दिख रही थी; यथा—'***तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ॥ केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा॥***' ये तीनों अब मलिन हो गये। '***देहु भूप मन हरषित***' से मनकी मलिनता स्पष्ट है तभी तो मुनिने कहा कि '***हर्षित मन***' से दो, राजाके मनका हर्ष जाता रहा था—'***मुख दुति कुमुलानी***' यह तन वा कर्मकी मलिनता है और,'***राम देत नहिं बनै***' यह वचनकी मलिनता है। वचनको झूठा कर देना, वचनका पालन न करना, यह वचनकी मलिनता है। (पुनः,'***हृदय कंप***' यह मनकी मलिनता है। (प्र० सं०) (ग)'***अति अप्रिय***' से जनाया कि ये वचन हृदय और मनको विदारित करनेवाले थे; यथा—'***हृदयमनोविदारणं मुनिवचनं***...॥' (वाल्मी० १। १९। २२) इसीसे तो '***हृदय कंप***...' यह दशा हुई।]

टिप्पणी—२'***चौथें पन पाएउँ सुत चारी।***...' इति। (क) अवस्थाएँ चार हैं—बाल्य, युवा, मध्य और जरा। यथा—'***लरिकाई बीती अचेत चित चंचलता चौगुनी चाय। जौबन ज्वर जुवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥ मध्य बयस धन हेतु गँवाई कृषी बनिज नाना उपाय। अब सोचत मनि बिनु भुअंग जिमि बिकल अंग दले जरा धाय॥***' इति विनये। (ख) '***चौथें पन***' कहनेका भाव कि हमको पुत्र दुर्लभ थे, उपायसे प्राप्त हुए हैं, दुर्लभ वस्तु देनेमें बड़ा कष्ट होता है। [चौथेपनमें जो संतान होती है वह अति प्रिय होती है। तरुणावस्थामें पुत्रके होनेकी आशा रहती है। श्रीदशरथजीकी वह पूर्ण अवस्था बीत गयी थी, साठ हजार वर्षकी अवस्था हो जानेपर ये पुत्र हुए थे; यथा—'**षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक॥**'(वाल्मी० १२०। १०) यह दशरथजीने स्वयं मुनिसे कहा है। अतएव यह भी भाव है कि यद्यपि मेरे चार पुत्र हैं और एक भी पुत्र जीवित रहे तो वंश चल सकता है पर ये चारों मेरे बुढ़ापेके पुत्र हैं, इससे चारों अत्यन्त प्रिय हैं। अत्यन्त प्रिय वस्तु माँगना न चाहिये। (ग) '***बिप्र***' का भाव कि आप वेदवेत्ता हैं—'***वेदपाठी भवेद्विप्रः***' (मनु०), निरक्षर नहीं हैं; आपको विचारपूर्वक वचन कहना चाहिये था। (हरिदासजी) (घ)'***बचन नहिं कहेहु बिचारी***' अर्थात् आपने इसका विचार न किया कि वृद्धावस्थामें संतानका वियोग कैसे सहन होगा, फिर आप जरावस्थाके छोटे-छोटे अत्यन्त सुकुमार पुत्रोंको राक्षसोंसे युद्ध करनेके लिये माँगते हैं। '***कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा॥***' भला ये राक्षसोंसे युद्ध करने योग्य हैं? यह भी आपने न विचारा। [पुनः '***बचन न कहेउ बिचारी***' का दूसरा भाव कि पुत्र माँगनेकी वस्तु नहीं। भूमि, धन आदि माँगनेकी चीजें हैं सो माँगनी चाहिये थीं, जैसा आगे कहते हैं।]

रा० च० मिश्रजी—राजा वात्सल्यरसमें मग्न हैं, प्रेमान्ध हो रहे हैं, इसीसे मुनिके गूढ़ अभिप्रायसे भरे हुए '***धर्म सुजस***' इन वचनोंका आशय नहीं समझे। वियोग और निशिचरका सामना इन्हीं दोनोंने इनके हृदयको आच्छादित कर लिया है। इसीसे ये कातर हो रहे हैं। यह श्रीरामप्रेमकी महिमाका उत्कर्ष है।

प० प० प्र०—'**विप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी**' इति। यहाँ महामुनि विश्वामित्रजी अविचारी विप्र हो गये! ऐसा क्यों? ☞यहाँ गोस्वामीजीकी भावनिदर्शनकलाका कमाल दृष्टिगोचर हो रहा है। देखते चलिये—पहले विश्वामित्र महामुनि थे, यथा—'**विश्वामित्र महामुनि ज्ञानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥**' (२०६। २) पर, विश्वकल्याणके ही लिये क्यों न हो जब क्षत्रिय राजाके पास जाकर याचना करनेका विचार मनमें करने लगे तब महामुनिसे कविने उनको मुनिवर बना दिया, महामुनि न रह गये। यथा—'**तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा।......करि बिनती आनौं दोउ भाई।**' (२०६। ६-७) और जब याचना करनेके लिये राजद्वारपर पहुँच ही गये, तब 'मुनिवर' पदवीसे गिरकर वे 'मुनि' मात्र रह गये। यथा—'**मुनि आगमन सुना जब राजा।**' (२०७। १) '**करि दंडवत मुनिहि सनमानी।**', '**राम देखि मुनि देह बिसारी**', '**मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ।**' (२०७। २, ५, ७) जब राजासे विनय करके याचना की तब तो विश्वामित्रजी मुनि भी न रह गये, अविचारी विप्र हो गये। क्षत्रिय राजाके पास जाकर कुछ याचना करना मुनियोंके लिये उचित नहीं है। ऐसा करनेसे मान, तेज और निस्पृहताकी हानि होती है। आगे भी मुनि वा विप्र ही कहा है। जब जनकपुर अमराईमें ठहरे, राजद्वारपर नहीं गये तब वे फिर महामुनि पदको प्राप्त हुए। (☞ ऐसे ही भावनिदर्शन अगणित स्थलोंमें आये हैं। यत्र-तत्र उनका उल्लेख भी मा० पी० के संस्करणोंमें हुआ है। इस प्रसंगमें भी है ही। केवल बीचमें एक बार मुनि शब्दोंके बीचमें 'मुनिवर' भी आया है। यथा—'**बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिवर हृदय हरष अति पावा॥**' (२०७। ४) इसपर स्वामीजीकी दृष्टि नहीं पड़ी, अतः उस अपवादके सम्बन्धमें कुछ विचार नहीं लिखे)।

माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥ ३॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥ ४॥

अर्थ—हे मुनि! पृथ्वी, गौ, धन, खजाना माँगिये। मैं हर्ष और उत्साहपूर्वक आज सर्वस्व सभी कुछ दे डालूँगा ॥ ३॥ देह और प्राणसे अधिक प्रिय कुछ भी नहीं होता सो भी, हे मुनि! मैं आपको पलमात्रमें दे डालूँगा॥ ४॥

टिप्पणी—१'**माँगहु भूमि धेनु धन कोसा।......**' इति। (क) विश्वामित्रजीके '**देहु भूप मन हरषित**' इन वचनोंके उत्तरमें राजाके ये वचन हैं कि भूमि आदि माँगिये, हम सब हर्षपूर्वक देंगे। प्रथम देनेको कहा था-'**कहहु सो करत न लावौं बारा**', अब नहीं करनेसे मुनि कहेंगे कि तुम्हें नहीं देना था तो प्रतिज्ञा क्यों की थी? अतः कहते हैं कि '**माँगहु भूमि ......सहरोसा**', जिसमें 'नहीं' न ठहरे, बात झूठी न पड़े और लड़कोंको देना भी न पड़े। (ख) राजाने प्रथम आगमनका कारण पूछा, माँगनेको नहीं कहा, क्योंकि विश्वामित्र माँगनेवाले महर्षियोंमें नहीं हैं। कारण पूछनेपर जब उन्होंने कहा कि '**मैं जाचन आएउँ नृप तोही**' तब उसके उत्तरमें कहते हैं कि '**माँगहु......**'। (ग) राजाके लिये भूमि मुख्य है, सदा राज्य बढ़ानेकी ही इच्छा उसे रहती है, इसीसे प्रथम 'भूमि' को कहा। [मुनियोंको गौओंकी आवश्यकता रहती है, उनको यज्ञादिके लिये धनकी जरूरत होती है, अतः उसे माँगनेको कहा। और राजाके प्रधान अङ्गोंमेंसे एक अंग कोष भी है; अतः उसे भी दे देनेको कहते हैं।](घ)'**सर्बस देउँ आजु**' इति। '**आजु**' का भाव कि सर्वस्व दान कर देनेकी सब दिन श्रद्धा नहीं रहती, सदा उत्साह एकरस नहीं बना रहता, आज उत्साह है, क्योंकि आप ऐसे महामुनि याचक बनकर आये हैं। हमारा भाग्य क्या इससे बढ़कर हो सकता है? इस परमानन्दमें आज सर्वस्व दे सकता हूँ।

नोट—'**सहरोसा**' इति। सहरोसा=सहर्ष, हर्षपूर्वक। पं० रामकुमारजी, काष्ठजिह्वास्वामीजी इत्यादि महात्माओंने यही अर्थ लिखा है और यही ठीक और संगत है। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'वाल्मीकिजीने 'हरस' शब्दको 'हरुस' किया और गोस्वामीजीने अनुप्रासके लिये उसको 'हरोस' कर दिया—'**हरोसेन सहितः सहरोसः।**' यथा—'**सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥**' (३। ४३)

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'विरोध लक्षणासे 'रोष' का अर्थ 'हर्ष' जानना चाहिये; पुनः, प्राकृतमें 'सहरोस' शब्द हर्षवाची है।' अरण्यकाण्डमें भी यही शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यथा—'*सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्हकै रखवारी।*' यहाँ तो किसी प्रकार दूसरा अर्थ लगाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि नारदजीपर कदापि क्रोध नहीं; वे तो आपको बड़े ही प्रिय हैं और फिर यहाँ तो क्रोधका कोई कारण ही नहीं। इसी प्रकार यहाँ दानकी प्रतिज्ञा एक महामुनि, ब्रह्मर्षिसे कर रहे हैं; दान हर्षपूर्वक दिया जाता है, नहीं तो वह दान व्यर्थ और हानिकारक हो जाता है। छन्द बैठानेके लिये 'हरसा' का 'हरोसा' (हरोषा) हो गया। ऐसे उदाहरण सूरदास तथा केशवदासजीके ग्रन्थोंमें बहुत मिलते हैं; यथा—'*कीधौं नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही*' (यहाँ 'बरही'का 'बरोही' बनाया गया) '*कलिकाल महाबीर महाराज महिमेवाने*' (यहाँ 'महिमावान'का 'महिमेवाने' हुआ)। पुनः, रामायणी संत इसका ऐसा भी अर्थ करते हैं कि **सहरोसा**=सह=रोषा। और 'रोष' का अर्थ उमंग, सूरता, हर्ष करते हैं जैसा '*बंदौं खल जस सेष सरोषा।*' (४, ८) में सरोषाका अर्थ शेषजीके सम्बन्धमें लिखा जा चुका है। 'रोस' का एक अर्थ शब्द-सागरमें भी 'जोश, उमंग' दिया है; यथा—'*बिगत जलद नभ नील खड़ग यह रोस बढ़ावत*' (हरिश्चन्द्र)।

कुछ टीकाकारोंने '*क्रोध सहन कर*' वा 'अपने ऊपर क्रोध करके हठपूर्वक' ऐसा अर्थ किया है पर ये अर्थ असंगत हैं। दानमें इसका प्रयोजन कैसा? ऐसी कल्पना भोंडी होगी।

टिप्पणी—२ '*देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।*......' इति। (क) राजा दानी हैं, इसीसे उन्होंने भूमि और धन देनेको कहा और शूरवीर हैं इससे देह और प्राण देनेको कहा। तात्पर्य कि दानीको धनका छोह (ममत्व) नहीं रहता और शूरवीरको देह और प्राणका मोह नहीं होता। यथा—'*दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई॥*' (२। ३५) (ख) '*तें प्रिय कछु नाहीं*' कहकर जनाया कि भूमि, कोष और सर्वस्व आदि सब पदार्थ प्रिय होते हैं, पर देह और प्राण परम प्रिय होते हैं, यथा—'*सबकें देह परम प्रिय स्वामी।*' (५। २२) (ग) देह और प्राण देनेको कहनेमें आशय यह है कि राक्षसोंसे युद्ध करनेमें देह और प्राणोंका काम है, सो आज्ञा हो तो मैं साथ चलकर राक्षसोंसे युद्ध करूँ। (घ) '*सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं*' इति। भाव कि देह और प्राण जल्दी नहीं दिये जाते, पर मैं उसे माँगते ही निमिषमात्रमें दे दूँगा। माँगकर देख लीजिये। ☞भूमि आदिके देनेमें '*देउँ आजु सहरोसा*' और देह और प्राण देनेमें '*देउँ निमिष एक माहीं*' कहा। भेदमें भाव यह है कि भूमि, कोष और सर्वस्व देनेमें प्रायः हर्ष नहीं रहता, विस्मयकी प्राप्ति हो जाती है। अतः उसके देनेमें 'हर्ष' कहा और देह और प्राण देनेमें प्रायः संकोच और विलम्ब होता है, इसीसे इनके देनेमें '*निमिष एक माहीं*' कहा। जैसे दधीचिजीने प्राण दे दिये और जैसे निषादराजने कहा था कि '*तजौं प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे॥*' वैसे ही राजा श्रीरघुनाथजीके बदले अपने प्राण देनेको तैयार हैं। राजा प्राण देनेको कहते हैं, पुत्रोंको देनेको नहीं कहते, क्योंकि वे सोचते हैं कि पुत्रोंको दे देनेसे हमारे प्राण चले जायेंगे, राक्षस हमारे पुत्रोंको मार डालेंगे। और हमारे प्राण देनेसे हमारे ही प्राण जायँगे, हमारे पुत्र तो बचे रह जायँगे। [वाल्मीकीयमें कहा है कि मुनिसे यह जानकर कि मारीचादिका स्वामी रावण है राजाने कहा कि मैं भी उसके अथवा उसकी सेनाके साथ युद्ध करनेको समर्थ नहीं हूँ तब इन बालकोंको उनसे युद्ध करने क्योंकर भेज दूँ। '**तेन चाहं न शक्रोमि संयोद्धुं तस्य वा बलैः।**....' (१। २०। २०) वाल्मीकीयके इस भावको गोस्वामीजीने कितनी उत्तम रीतिसे '*देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।*....' कहकर निबाहा है। भाव कि युद्धमें मैं प्राण रहते पीछे न हटूँगा, जीत न भी सकूँ तो क्या?

सब सुत प्रिय मोहि[1] प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनै गोसाईं॥५॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा॥६॥

---

१ 'प्रिय प्रान की नाईं—१६६१ की प्रतिमें है। १७०४, १७६२ में भी है। उपर्युक्त पाठ १७२१, छ० भा० दा० का है। को० रा० में 'मोहि प्रिय' पाठ है।

अर्थ—सब पुत्र मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं। (उनमें भी) हे गुसाईं (स्वामिन्)! रामको (तो किसी प्रकार) देते नहीं बनता॥ ५॥ कहाँ तो अत्यन्त भयानक और कठोर (निर्दयी) राक्षस और कहाँ ये परम किशोर अवस्थाके सुन्दर बालक॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं।.........'* इति। (क) सब पुत्र प्राणके समान प्रिय हैं, भाव कि पुत्रोंके देनेमें संकोच है, राम-लक्ष्मणकी कौन कहे भरत-शत्रुघ्नको भी नहीं दे सकते। पुनः भाव कि पुत्रके समान देह और प्राण हैं सो देह और प्राण उनके बदलेमें देनेको कहते हैं। इस प्रकारके कथनसे 'नहीं' करना न ठहरा। (ख) *'राम देत नहिं बनै'* इति। विश्वामित्रजीने मुख्य रामजीहीको माँगा है, इसीसे प्रथम चारों पुत्रोंको कहकर अब उनसे पृथक् दूसरे चरणमें कहते हैं कि रामको देते नहीं बनता। सब पुत्रोंको प्राणप्रिय कहकर तब *'राम देत नहिं बनै'* कहनेसे सूचित हुआ कि रामजी प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। सबको प्राणप्रिय न कहकर यदि राम-लक्ष्मणको ही ऐसा कहते तो मुनि न जाने भरत-शत्रुघ्नको ही माँग लेते। अतः प्रथम सभीको देना अस्वीकार किया।*'देत नहिं बनै'* से जनाया कि इनके वियोगसे दुःसह दुःख होगा; यथा—*'सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥'* (२। ३०८) इनका विरह मरणसे अधिक दुःखदायी है; यथा—*'मागु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही॥'* (२। ३४)

नोट—१ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि*'माँगहु भूमि धेनु.....'* इत्यादि कहनेपर भी जब मुनि प्रसन्न न हुए, उदास ही बने रहे तब कहा—*'देह प्रान तें.....'*। इतनेपर भी प्रसन्न न हुए, तब विचार किया कि हमने प्राणतक देनेको कहा तब भी उदास ही बने रहे; इसमें क्या कारण? सोचनेपर यह बात चित्तमें आयी कि देहका देना तो ठीक है, पर प्राण तो पवनरूप है उसे कैसे देंगे? यह बात हमारी असत्य है। अतएव कहा कि *'सब सुत मोहि प्रान कि नाईं।.........'* अर्थात् तीन सुत हमारे प्राणसमान हैं, उन्हें दे सकते हैं पर श्रीरामजीको देते नहीं बनता, क्योंकि ये 'गोसाईं' हैं; इनके देनेमें इन्द्रियोंमें शक्ति न रह जायगी।

पंजाबीजी तथा बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'यहाँ यह व्यञ्जित किया कि कदाचित् और किसी पुत्रको माँगें तो क्लेश सहकर मैं दे भी दूँ, पर श्रीरामजीको नहीं दे सकता अर्थात् अपना *'जीवन राम दरस आधीना'* बताया, वा, ज्येष्ठ पुत्र पिताको अधिक प्रिय होता है, इससे *'देत नहिं बनै'*।'

पं० रामचरणमिश्रजी यही प्रश्न उठाकर कि 'जब सब प्राणकी नाईं हैं तो रामको पृथक् करके क्यों कहा?' उसका उत्तर यह देते हैं, कि 'सब पुत्र प्राणके समान हैं और श्रीरामजी प्राणके भी प्राण हैं; यथा—*'प्रान प्रान कें जीवके जिव सुखके सुख राम।'* (२। २९०) मूर्छादिकोंकी किसी-किसी दशामें प्राणवायु पृथक् भी हो जाती है परंच यदि प्राणकी चेतयिता पृथक् नहीं हुई तो प्राणी फिर भी जीवित हो जाता है और यदि विलग हो गयी तो फिर जीवित नहीं हो सकता। श्रीरामजी प्राणके चेतयिता हैं। अतएव रामको देते नहीं बनता। क्योंकि रामजी 'गोसाईं' अर्थात् इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं, सब प्राणसम हैं, पर राम अधिक हैं, इसमें 'विशेषक अलंकार' की ध्वनि है।

नोट—२ वाल्मी० १। २०। ११-१२ में भी कहा है **'चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम॥ ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च.......'**।' अर्थात् यद्यपि मेरे चार पुत्र हैं तथापि मेरी सबसे अधिक प्रीति ज्येष्ठ पुत्रमें है। अ० रा० में राजाके वचन हैं'—**रामं त्यक्तुं नोत्सहते मनः। बहुवर्षसहस्रान्ते कष्टेनोत्पादिताः सुताः॥ ९॥ चत्वारोऽमरतुल्यास्ते तेषां रामोऽतिवल्लभः। रामस्त्वितो गच्छति चेन्न जीवामि कथञ्चन॥**' (१। ४। १०) पर ये वचन इसी प्रसंगमें वहाँ गुरु वसिष्ठसे सम्मति लेनेमें कहे गये हैं। मानससे ये वचन मिलते-जुलते हैं।

टिप्पणी—२ *'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा।'* इति। (क) रामजीको देते नहीं बनता, इसका अब हेतु दो वाक्योंसे देकर श्रीरामजी और निशाचरोंमें महदन्तर सूचित करते हैं। निशिचर 'अति घोर कठोर' हैं

अर्थात् उनकी ओर ताकते भय लगता है, वे देखे जानेयोग्य नहीं; वे अनेक शस्त्रास्त्र सह सकते हैं। और पुत्र परम सुन्दर हैं, परम किशोर हैं, अर्थात् दर्शनयोग्य हैं, इनको सदा देखते ही रहें यही जी चाहेगा (जैसे आप एकटक देखते ही रह गये थे), इनके शरीर अत्यन्त कोमल हैं। अभी परम किशोर हैं अर्थात् अभी किशोरावस्थाका प्रारम्भ हुआ है, शस्त्रास्त्र सह नहीं सकते, यथा—*कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥*' '*अति*' घोर और कठोर दोनोंका विशेषण है। इसी तरह परम सुन्दर और किशोर दोनोंसे सम्बन्ध रखता है। (ख) विश्वामित्रजीने राजामें मोह और अज्ञान कहे। वे दोनों यहाँ राजाके वचनोंमें देखे जा रहे हैं।'*राम देत नहिं बनै*' तक मोह कहा और '*कहँ निसिचर*' यह अज्ञान है। श्रीरामजीके प्रभावको नहीं जानते, यही अज्ञान है। ['*कहँ निसिचर*......' में 'प्रथम विषमालंकार' है। '*परम किसोर*' हैं अर्थात् समर कभी देखा नहीं, तब निशिचरोंसे समर कैसे करेंगे? उन्हें देखकर ये डर जायँगे। (हरीदासजी)]

सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी। हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी॥७॥
तब बसिष्ट बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥८॥

अर्थ—प्रेमरसमें सनी हुई राजाकी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनिने हृदयमें आनन्द माना॥ ७॥ तब वसिष्ठजीने राजाको बहुत प्रकारसे समझाया (जिससे) राजाका संदेह दूर हो गया॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'नहीं' सुनकर क्रोध होना चाहिये था, सो न हुआ, क्योंकि मुनि ज्ञानी हैं। ज्ञानीके क्रोध नहीं होता। वाल्मीकीयमें लिखा है कि मुनिको क्रोध हुआ। यह भाव गोस्वामीजी—'*हृदय हरष माना*' इन शब्दोंसे दिखाते हैं। तात्पर्य कि ऊपरसे क्रोध किया पर भीतरसे प्रेमरससानी वाणी सुन प्रसन्न हुए। श्रीरामजीमें प्रेम होना हर्षकी बात है। इससे विश्वामित्रजीके ज्ञानकी शोभा कहते हैं; यथा—'*सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करन धार बिनु जिमि जलजानू॥*' (ख)—'*तब बसिष्ट बहु बिधि समुझावा*' इति। वाल्मीकीय और अध्यात्मादि अनेक रामायणोंमें ऋषियोंने अनेक प्रकारसे समझाना लिखा है। इसीसे ग्रन्थकारने उन समस्त विधियोंके ग्रहणार्थ यहाँ कोई विधि न लिखी। [पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि समझानेकी विधि न लिखनेका कारण यह भी हो सकता है कि ग्रन्थकारका चित्त बहुत कोमल है, विधि कहनेमें देर लगती तबतक विश्वामित्रके चित्तकी विरसताको कवि न सह सके। अतएव इस पदसे समझानेकी विधि निकाल झट '*अति आदर दोउ तनय बोलाए*' पुत्रोंके समर्पण करनेका प्रसङ्ग लगा दिया। दूसरे, रघुकुलके अमल यशमें मैल आते देख राजाके हृदयमें आयी हुई कृपणताके निकालनेमें शीघ्रताके कारण '*बहु बिधि समुझावा*' कह झट दानियोंकी उदारताका प्रसङ्ग लगा दिया।]

नोट—१ यहाँ गोस्वामीजीके शब्द कैसे उत्कृष्ट हैं। राजाके इन वचनोंसे मुनिके कार्यमें बाधा-सी दिख रही है तो भी हृदयमें खेद न हुआ। '*हृदय हरष*' कहकर गोस्वामीजीने वाल्मीकीय आदि कुछ रामायणोंमें वर्णित रोषका समाधान भी कर दिया और साथ ही गुप्तरीतिसे इन शब्दों तथा '*बसिष्ट बहु बिधि समुझावा*' से ऊपरकी रुखायी भी जना दी। खेद न होनेके कारण रामप्रेमकी महिमा है। पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि' *हृदय हरष*' के साथ '*मुनि ज्ञानी*' विशेषण देकर जनाया कि 'ये विचारमान् हैं। जानते हैं कि यदि ऊपर भी हर्षके चिह्न देख पड़े तो काम बिगड़ जायगा। अतएव प्रेमका उद्गार जो ऊपरको उमड़ा आ रहा था उसे दबाया।'

नोट—२ ऐसे-ऐसे प्रसङ्ग गोस्वामीजी दो-एक शब्दोंहीमें विस्तारके भयसे समाप्त कर देते हैं, वसिष्ठजीका राजाको एकान्तमें समझाना आगेकी चौपाईसे सिद्ध होता है कि '*अति आदर दोउ तनय बोलाए*'। चारों पुत्र मुनिके समीप थे। जब राजाने मुनिके चरणोंपर डालकर पुत्रोंसे प्रणाम कराया था तबसे वे वहीं बने रहे, वहाँसे उनका जाना वर्णन नहीं किया गया। यदि गुरुने राजाको विश्वामित्रके समीप ही समझाया होता तो पुत्रोंका बुलाया जाना यहाँ न कहा जाता। राजाको एकान्तमें ले जाकर समझानेका कारण एक तो यह भी है कि उनको श्रीरामजीके ऐश्वर्यका ज्ञान कराना है, जो श्रीरामजीके सामने नहीं करा सकते थे, क्योंकि श्रीरामजीकी इच्छा नहीं है कि उनका ऐश्वर्य खुले। यथा—'*हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह*

जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥' (२०२। ८) 'एतद्गुह्यतमं राजन्न वक्तव्यं कदाचन।' (अ० रा० १। ४। १९) (यह राजासे वसिष्ठजीने कहा है कि यह अत्यन्त गोप्य बात है किसीसे कहियेगा नहीं)।

नोट—३ क्यों समझाना पड़ा? इसका एक कारण तो गीतावली एवं अ० रा० में यह मिलता है कि मुनिने कहा था कि *'डरपत हौं साँचेहु सनेह बस सुतप्रभाव बिनु जाने। बूझिय बामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने॥'* (पद ४८) 'वसिष्ठेन सहामन्त्र्य दीयतां यदि रोचते। पप्रच्छ गुरुमेकान्ते राजा चिन्तापरायणः॥' (१। ४। ८) अतएव राजाने गुरुकी सलाह ली। दूसरे, गीतावलीके *'रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के बयन। कहि न सकत कछु रामप्रेमबस पुलक गात भरे नीर नयन॥ गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो॥'* (पद ४९) इस उद्धरणसे यह ज्ञात होता है कि राजाको प्रेमसे विह्वल देखकर गुरुने स्वयं उन्हें एकान्तमें ले जाकर समझाया। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि गुरुने यह देखकर कि विश्वामित्रजीको बड़ा क्रोध आ गया है, जैसा कि वाल्मीकीयसे स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ उन्होंने क्रोधावेशमें आकर राजासे कहा है कि 'प्रतिज्ञा करके नहीं देते हो तो लो हम जाते हैं, तुम मिथ्यावादी होकर जियो।' और इनके कोपसे पृथ्वी हिलने लगी है, राजाको समझाया।

नोट—४ *'बहु बिधि समुझावा'* इति। सब रामायणोंमें समझाना एक-सा नहीं देखा। किसी ऋषिने कुछ लिखा, किसीने कुछ। सबका पक्ष रखनेके विचारसे भी ग्रन्थकारने इस प्रसङ्गको दो ही शब्दोंमें समाप्त कर दिया। *'बहु बिधि'*; यथा—(क) तुम्हारे कुलकी उदारता प्रसिद्ध है कि *'प्रान जाहु बरु बचनु न जाई।'* (२। २८) *'मंगल लहहिं न जिन्हके नाहीं'* प्रतिज्ञाके उल्लङ्घनसे कुलके अमल-यशमें कलङ्कका दाग लग जायगा। राजन्! धर्मपर स्थित रहिये। (ख) 'जो कोई किसीको कुछ देनेको कहकर फिर नहीं देता उसका तेज, धर्म, ज्ञान, तप, सत्य, शोभा और श्री सबके सबका नाश हो जाता है और वह अन्तमें यमलोकको प्राप्त होता है। तुमने प्रथम कहा था कि *'कहहु सो करत न लावौं बारा'* और अब बदल गये, यह अनुचित है।' (शीलावृत्ति) (ग) विश्वामित्र बड़े क्रोधी हैं। देखो, हमारे सौ पुत्रोंको शाप देकर भस्म कर दिया, वे तुम्हारे कुलको नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे। (घ) स्नेह और ममताके वश पुत्रोंकी सुकुमारतासे भयभीत न हो। विश्वामित्र साधारण ऋषि नहीं हैं, तपस्याके प्रतापसे सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रविद्याका उनमें निवास है, वे यह सब विद्या राजकुमारोंको दे देंगे और अपने तेजसे इनकी रक्षा करेंगे। उनके प्रतापसे ये सब निशिचरोंको मारेंगे और उनके द्वारा त्रैलोक्यमें इनका यश फैल जायगा। राजन्! तुम अभी-अभी उनके विवाहकी चिन्ता कर रहे थे। श्रीशिवजीने उसी चिन्ताके निवारणार्थ विश्वामित्रजीको यहाँ उन्हें लेनेके लिये भेजा है। वे इनका विवाह करा देंगे और इनका ही नहीं वरंच भरत-शत्रुघ्नके भी विवाह इन्हींके कारण होंगे। (ङ) विश्वामित्रजी त्रिकालज्ञ हैं, वे भविष्य जानते हैं। इनके द्वारा कुछ अपूर्व कार्य होना है। (च) ये दोनों राजकुमार महिभार उतारनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं। तुम माधुर्यमें भूले हुए हो, इसीसे कातर हो रहे हो। ये मनुष्य नहीं हैं वरंच सनातन परमात्मा हैं। पूर्व-जन्ममें आपने वर माँगा था कि आप हमारे पुत्र हों, ये रामचन्द्र वही परब्रह्म परमात्मा हैं। विश्वामित्र यज्ञ-रक्षाके बहाने आदिशक्तिसे इनका सम्बन्ध करावेंगे। (अध्यात्मरा० १। ४। १२—२०) गीतावलीमें भी कहा है—*'गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो तब हिय हरषाने जाने सेष सयन॥'* (पद ४९) श्रीजानकीमङ्गलमें भी कहा है—*'कहि गाधि सुत तप तेज कछु रघुपति प्रभाउ जनायऊ॥'* (१५)

नोट—५ *'नृप संदेह नास कहँ पावा'* इति। राजा ऐश्वर्य भूल गये हैं, माधुर्यमें मग्न हैं, इसीसे श्रीरामरूपमें सन्देह है।—*'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा॥'* यह सन्देह था, सो मिट गया।

अति आदर दोउ तनय बोलाए। हृदय लाइ बहु भाँति सिखाए॥ ९ ॥
मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥ १०॥

अर्थ—(उन्होंने अत्यन्त आदरसे दोनों पुत्रोंको बुलाया और हृदयसे लगाकर बहुत प्रकारसे उनको शिक्षा दी॥ ९॥ (फिर मुनिसे बोले) हे नाथ! ये दोनों पुत्र मेरे प्राण एवं प्राणनाथ हैं। हे मुनि! (अब)

आप ही इनके पिता (अर्थात् रक्षा करनेवाले) हैं और कोई (इनकी रक्षा करनेवाला अब) नहीं है (वा, आप और कुछ नहीं हैं, पिता ही हैं)॥ १०॥

श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी—यह कुल प्रसङ्ग महाकाव्यकलाकी दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है। महाकाव्यकलाके तीन विभाग होते हैं—१ आध्यात्मिक, २ आधिदैविक, ३ आधिभौतिक (सृष्टीय)। रामचरितमानसमें तीनोंका वर्णन है; परंतु प्रथमका संकेतमात्ररूपमें कथन 'नामकी महिमा-प्रसङ्गमें' है। उदाहरणके तौरपर देखिये—*'राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥'* (मानो अहल्या हमारी पत्थर बनी हुई जड़ मति ही है। विनयमें भी कहा है—*'सहससिला ते अति जड़ मति भई है')* पुनः, *'भंजेउ राम आप भवचापू। भवभयभंजन नाम प्रतापू॥'* (मानो धनुष 'भवभय' ही है)। दूसरा पक्ष (आधिदैविक) तो बहुत ही स्पष्ट लिखा हुआ है और आधिभौतिक पक्ष भी कम नहीं। केवल अन्तर यह है कि नारदजीने वाल्मीकीयकी मूल कथा ब्रह्मलोकमें कही थी, जहाँ सब आधिदैविक रूप जानते थे और इसलिये यह जाननेको उत्कण्ठित थे कि नटराजने आधिभौतिकरूप 'काँछकर' कैसा नाचा। इसीलिये वहाँ आधिभौतिक रूपका ही अधिक वर्णन है, परन्तु तुलसीदासजीकी कथाका मूल शिव-पार्वती-संवाद है। जहाँ आधिभौतिक नाच देखकर ही सन्देह वा भ्रम उत्पन्न हुआ था और पार्वतीजी आधिदैविक रहस्य जानना चाहती थीं। इसी कारणसे इसी पक्षपर जोर है। विस्तारसे ('रामचरितमानस एक नाटकी महाकाव्य' नामक पुस्तकमें लिखा जा रहा है, जिसका कुछ अंश लेखोंके रूपमें 'चाँद' में प्रकाशित हो चुका है)।

यहाँ इस प्रसङ्गका राष्ट्रीय रूप दिखाना है, जो बड़ा ही शिक्षाप्रद है १—विश्वामित्र वह ब्रह्मशक्ति है जो सारे विश्वका कल्याण चाहती है (मित्र), परन्तु स्वयं बलका प्रयोग नहीं करती। २—लेकिन क्षात्रशक्तिसे याचना करती है कि विश्व-विघ्ननिवारणके लिये बलका प्रयोग करे। ३—राष्ट्रके लिये इन दोनों ही क्या, सभी श्रेणीकी शक्तियोंका सहयोग होना चाहिये।—परशुरामके विश्वनेतृत्वमें श्रेणीयुद्ध था, इसीसे रावणकी अनार्यशक्ति बढ़ रही थी। रामके नेतृत्वमें परस्पर सहयोग हुआ। (राष्ट्रीय नेता विचार करें)। ४—राष्ट्रकी युवकशक्तिके प्रतिनिधि ही राम और लक्ष्मण हैं, जिनको 'स्वयं सेवक' के रूपमें माँगा गया। ५—लेकिन माँगा गया पितासे ही। यह नहीं किया गया कि 'पिता, माता और गुरु'की आज्ञाका अवलङ्घन कराया जावे। देखिये न, हमारे देशमें युवकशक्ति अब कितनी अमर्यादित हो रही है कि राष्ट्रीय नेताओंका भी कहना नहीं मानती। यह आज्ञा-भङ्गक शिक्षाका दुष्परिणाम है।

महाराज दशरथजी राष्ट्रकी वृद्ध 'पिता' शक्तिके प्रतिनिधि हैं, जो मोहके कारण युवकशक्तिका दान नहीं करना चाहती। वसिष्ठजी उस शिक्षाशक्तिके प्रतिनिधि हैं, जो राष्ट्रके बसानेमें इष्ट है और ठीक उपदेश देकर युवकशक्तिका दान राष्ट्रके कल्याणके लिये कराती है।

'बल', 'विवेक', 'दम' और 'परहित'का सुन्दर प्रयोग होकर ही राष्ट्रका रथ आगे बढ़ता है और ताड़का-सुबाहुरूप आसुरी-शक्तिका निवारण होता है। राष्ट्र और गृहस्थीकी मर्यादा भी बनी रही और काम भी बन गया।

टिप्पणी—१ *'अति आदर दोउ तनय बोलाए।'''''''* इति। (क) *'अति आदर'* का भाव कि आदर तो सदा सब दिन ही करते रहे पर आज वियोगका दिन है, आज अपने समीपसे उनको बिदा करना चाहते हैं, अतएव आज *'अति आदर'* किया। [वा, वसिष्ठजीसे उनके ऐश्वर्यका बोध अभी-अभी हुआ है, इससे *अति आदर''''''''* '। वा, भाव कि आदर तो सभी पुत्रोंका करते हैं, पर ये ऐसे हैं कि विश्वामित्र ऐसे मुनि इनके लिये याचक बनकर आये, अतएव *अति आदर''''''* ' कहा।] (ख) *'हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये'* इति। वियोग समझ स्नेहवश हुए, इसीसे हृदयमें लगाया। [पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि अब यह प्रश्न होता है कि 'ऐश्वर्य जान गये थे तो फिर *'हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये'*— शिक्षा कैसी? उत्तर यह है कि गुरुके समझानेसे राजाका बुलाते समय अवश्य ईश्वरीयभाव रहा, पर उनका मुख देखते ही वे पुनः माधुर्यमें मग्न हो गये, गुरुदत्त ज्ञान चलता हुआ। वियोगका समय था, अतः वात्सल्यरससे हृदयमें लगा लिया और शिक्षा देने लगे। हृदयमें लगानेका एक भाव यह भी है कि शरीरसे

तो वियोग होता है पर मेरे हृदयमें बने रहना।] (ग) '*बहु भाँति*……' कहा क्योंकि शिक्षाके सम्बन्धमें भी अनेक मत हैं। [इन्हींको माता, पिता और गुरु समझना, इनकी सेवा करना, इनकी सेवासे संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है, इनके वचनोंका कभी तिरस्कार न करना, इनकी आज्ञाओंका पालन करना। यथा—'**अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना। पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः॥**' (वाल्मी० १। २६। ३) (यह बात श्रीरामजीने ताटकावनके समीप विश्वामित्रजीसे स्वयं कही थी)।]

टिप्पणी—२ '*मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।*……' इति। (क) प्राण हैं अर्थात् इनके वियोगसे हमारे प्राणोंका वियोग है; यथा—'*सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक शरीर प्रान जनु भेंटे॥*' (२। ३०८) आप पिता हैं। '*पातीति पिता*' जो रक्षा करे वह पिता है। तात्पर्य कि आप ही अब इनके रक्षक हैं, इनकी रक्षासे हमारे प्राणोंकी रक्षा होगी। अतएव इनकी रक्षा आप स्वयं करते रहियेगा। (ख) ☞अपने प्राण बचानेके लिये राजाने अपना पितृत्वधर्म ऋषिमें स्थापित कर दिया, इससे पिता-पुत्रका संयोग बना रह गया। इसीसे राजाकी मृत्यु वियोगसे न हुई, नहीं तो जीवित न रहते। क्योंकि पूर्वजन्ममें इन्होंने वर माँगा था कि '*मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥*' (ग) ☞ पुत्रोंके प्रिय होनेमें '*प्रान की नाईं*' कहा था; यथा—'*सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं*'। और, वियोगमें उनको प्राण कहते हैं—'*मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ*'। इस भेदको दिखाकर सूचित किया कि राजाका स्नेह उत्तरोत्तर अधिक होता गया। प्रथम स्नेह था तब प्राणकी नाईं कहा और सौंपते समय जब स्नेह अधिक हो गया तब कहते हैं कि दोनों पुत्र हमारे प्राण हैं। '*आन नहिं कोऊ*' अर्थात् हमने आपको इनका पिता कहकर सौंप दिया है, अब आप इनके पिता ही हैं और कुछ नहीं हैं। ['**अन्नदाता भयत्राता यश्च विद्यां प्रयच्छति। जनिता चोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः॥**' अन्नदाता, भयसे रक्षा करनेवाला, विद्यादाता, पैदा करनेवाला (जनक) और उपनयनकर्ता—इन पाँचोंको पिता कहते हैं। राजा दशरथने इनमेंसे प्रथम तीन प्रकारका पितृत्व विश्वामित्रको सौंपा। जनिता और उपनेता दशरथजी ही हैं। (प० प० प्र०)]

नोट—१ श्रीजानकीमंगलमें '*तुम्ह मुनि पिता*……' के स्थानपर ये वचन हैं—'*करुणानिधान सुजान प्रभु सों उचित नहिं बिनती घनी॥ १५॥ नाथ मोहि बालकन्ह सहित पुर परिजन। राखनहार तुम्हार अनुग्रह घर बन॥*……' वि० त्रि० का मत है कि 'माँसे कुछ कहा नहीं, प्रणाम करके चल दिये, यह सोचकर कि असुरसे युद्ध करना कहेंगे तो वह नहीं जाने देंगी।

पं० रा० च० मिश्र—'दोनों पुत्र मेरे प्राणनाथ हैं' यह अर्थ है। भाव कि प्राणहीके बिलग होनेसे शरीर नहीं रहता तब भला 'प्राणोंके नाथ' के बिलग होनेसे कैसे रह सकेगा? रामजीके साहचर्यसे लक्ष्मणजीको भी प्राणनाथ कहा। इनके जानेसे शरीरका विश्वास नहीं, इस कारण, हे मुनीश्वर! आप ही पिता हैं और कोई नहीं। यहाँ 'पर्यस्तापह्नुति अलङ्कार' है। [☞ इसीसे फिर राजाने पुत्रोंकी खबर न ली, क्योंकि जब मुनि ही पिता हैं तब यदि खबर लेते तो उनका यह कथन ही असत्य ठहरता। सेना-सेवक आदि भी साथमें इसी भावसे न दिये। विशेष दो० २०८ नोट ५ में देखिये।]

प० प० प्र०—इस प्रसङ्गका आध्यात्मिक रूप देखिये। राम=विमल ज्ञान। लक्ष्मण=परम बिराग (परवैराग्य)। विश्वामित्र=सत्संग। विश्वामित्रयज्ञ=ब्रह्मसत्र, ज्ञानसत्र—'**ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।**' (गीता १८। ७०) ताटका=स्थूल-देह-बुद्धि। मारीच=लिङ्गदेह। सुबाहु=कारणदेह। भवचाप=संसृति। सीता=ब्रह्मविद्या। जानकी=पराभक्ति। भवचापभंग=भवभंग। भवभंग विमलज्ञान ही कर सकता है। अन्य साधनरूपी भूपोंसे यह नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय दृष्टिसे श्रीयुत लमगोड़ाजीने ठीक ही लिखा है। महाराष्ट्रने इस बातका अनुभव भारतके इतिहासमें अमर कर दिया है। शिवाजी महाराज और श्रीरामदास समर्थ इन दोनोंके सहयोगसे ही दक्षिणमें धर्मराज्यकी स्थापना हो गयी। क्षात्रतेज और ब्रह्मतेजका जब सहयोग हुआ तब मुगलसत्ता, मुसलमानोंकी सत्ता, अधर्मकी सत्ता नामशेष हो गयी।

प० प० प्र०—दोहा २०७ और दोहा २०८ में उनके अङ्गभूत १०-१० चौपाइयाँ हैं। इससे दोहा २०७ में विश्वामित्रजीने श्रीरामप्रभुकी याचना की। श्रीरामजी पूर्णाङ्क '१' हैं, यदि वे न मिले और संसारकी सारी सम्पदा मिल जाय तो भी विश्वामित्रके लिये उसकी कीमत शून्य (०) है। 'यदि रामरूपी पूर्णाङ्क मुझे मिल जाय तो मेरे पास जो साधन-सामर्थ्य है उसकी इसके होनेसे दस-दस गुनी वृद्धि होगी' यह विश्वामित्रजीकी भावना इस १० अङ्कसे सूचित की। दो० २०८ में श्रीदशरथजीकी भी ऐसी ही भावना १० चौपाइयाँ देकर दिखायी हैं। भावना यह है कि 'राम पूर्णाङ्कके दे देनेसे मेरा सब ऐश्वर्यादि शून्यवत् रहेगा और मेरी देह भी शून्यवत् हो जायगी। एक इस अङ्कके रहनेसे इसके आधारपर सब प्रकारके सुख दिन-प्रति-दिन दसगुने बढ़ते जायँगे।' श्रीरामजीको दे देनेपर श्रीदशरथजी मृतक-समान ही रह गये, यह आगे स्पष्ट कहा है जब पुनर्मिलन हुआ, यथा—*'मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।'*

दो०—सौंपे भूप रिषिहि सुत बहु बिधि देइ असीस।
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस॥
सो०—पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भयहरन।
कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन॥ २०८॥

अर्थ—बहुत तरहसे आशीर्वाद देकर राजाने पुत्रोंको ऋषिके सुपुर्द कर दिया। प्रभु माताके महलमें गये और चरणोंमें माथा नवाकर चल दिये। पुरुषोंमें सिंहरूप अर्थात् श्रेष्ठ, कृपाके समुद्र, धीर-बुद्धि, समस्त ब्रह्माण्डोंके कारण और करण एवं कारणके भी कारण दोनों वीर भाई मुनिका भय दूर करनेके लिये हर्ष-(प्रसन्नता और उत्साह-) पूर्वक चले॥ २०८॥

टिप्पणी—१ *'सौंपे भूप रिषिहि सुत……'* इति। (क) प्रथम राजा मुनिसे कह चुके कि *'तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ'* इसीसे सौंपना कहा। जो वस्तु जिसकी होती है, उसीको सौंपी जाती है। मुनि इनके पिता हैं, अतः ये उनके हवाले कर दिये गये। पुनः *'सौंपे'* से जनाया कि पुत्रोंका हाथ पकड़कर मुनिके हाथमें पकड़ा दिया। (ख) मुनियोंने अपनी-अपनी रामायणोंमें अनेक आशीर्वाद लिखे हैं। इसीसे *'बहु बिधि'* लिखकर ग्रन्थकारने उन सबोंका ग्रहण किया।* (ग) *'जननी भवन गए प्रभु'* इति। माताके महलमें जाना और वहाँसे चल देना कहकर श्रीराम-लक्ष्मणजीकी पिताका वचन पालन करने और मुनिके साथ जानेमें श्रद्धा जनायी। मातासे मिलकर बहुत शीघ्र चले आये, विलम्ब न किया, जिसमें लोग यह न समझें कि मुनिके साथ जानेका मन नहीं है। (घ) *'प्रभु चले'* यहाँ *'प्रभु'* से दोनों भाइयोंका ग्रहण है, दोनोंने प्रणाम किया और दोनों चले। गोस्वामीजीने *'प्रभु'* शब्द लक्ष्मणजीके लिये अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है; यथा—*'तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।'* (२। ७५) *'जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा॥'* (६। ७६) इत्यादि। (ङ)

* 'राममाहूय विधिवल्लक्ष्मणेन समन्वितम्॥ १२॥ मुनये चार्पयामास ह्याशिषा सह भूमिपः॥ १३॥ पितुराज्ञाकरौ तौ च पादयोः पेततुस्तदा। प्रवत्स्यतोश्च मूर्द्धानौ न्यपतन्नश्रुबिन्दवः॥ १४॥ नेत्राभ्यां राजराजस्य चचाल मुनिसत्तमः। लक्ष्मणानुचरं रामं परिगृह्य मुदान्वितः॥ १५॥ आशिषं युयुजे राजा वाहिनीं न च रक्षिणः। आशीरेव क्षमा तत्र वाहिन्या न प्रयोजनम्॥ १६॥ मातृपादान्प्रणम्याथ जग्मतुः पुरुषर्षभौ॥ १९॥ इति सत्योपाख्याने उत्तरार्द्धे चतुर्थोऽध्यायः।'……अर्थात् श्रीराम-लक्ष्मणजीको प्रेमपूर्वक बुलाकर आशीर्वाद देकर राजाने मुनिको अर्पण कर दिया। आज्ञाकारी दोनों पुत्रोंने पिताके चरणोंपर मस्तक नवाया तब राजाके नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु उनपर पड़े। तत्पश्चात् मुनि प्रसन्नतापूर्वक दोनोंको लेकर चले। (१२—१५) राजाने साथमें सेना या रक्षक कुछ नहीं दिये, केवल आशीर्वाद दिया। उन्होंने यही सोचा कि आशीर्वाद ही इनका रक्षक है, सेना आदिका क्या प्रयोजन है? सब माताओंको प्रणाम करके दोनों पुरुषश्रेष्ठ मुनिके साथ चल दिये। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि माता-पिताने स्वस्तिवाचन किया, गुरुने माङ्गलिक मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किया। राजाने सिर सूँघा।' यथा—'कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च। पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमन्त्रितम्॥' (वाल्मी० १। २२। २) 'स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथस्तदा।' यह आशीर्वाद ही है।

☞राजाका आशीर्वाद देना लिखा गया परंतु दोनों भाइयोंका राजाको प्रणाम करना न लिखा गया और माताको प्रणाम करना ही लिखा गया, माताका आशीर्वाद देना नहीं लिखा गया। यहाँ दोनोंका अनुवर्तन है, *'बहु बिधि देइ असीस'* और *'नाइ पद सीस'* दोनोंको दोनों ही जगह अर्थ करते समय लगा लेना चाहिये। यह ग्रन्थकारकी शैली है और काव्यका एक गुण है। यहाँका आशिष वहाँ भी समझा जायगा और वहाँका प्रणाम यहाँ भी समझना चाहिये। गीतावली और जानकीमंगलसे इस भावकी पुष्टि भी होती है। यथा—*'ऋषि सँग हरषि चले दोउ भाई। पितु पद बंदि सीस लियो आयसु सुनि सिष आसिष पाई॥'* (गी० ५२) *'ईस मनाइ असीसहि जय जस पावहु। न्हात खसै जनि बार……।'* (जा० मं० २९)

नोट—१ राजा तो अत्यन्त विह्वल हो गये थे, पर माताकी ऐसी चेष्टा नहीं कही गयी। शीघ्र यहाँसे चल दिये, माताने कुछ न कहा? इसका कारण है। गीतावलीमें स्पष्ट इसका उल्लेख है। आगमीद्वारा इनको ज्ञात हो गया था कि मुनिके द्वारा इनके विवाह होंगे। अतएव वे प्रसन्न हैं। दूसरे, इनको प्रभुसे अलौकिक ज्ञानका वरदान मिल चुका है और अन्नप्राशनके समय प्रभु दुबारा अपने ऐश्वर्यका बोध करा चुके हैं। (मा० त० वि०) अभी तो माता प्रसन्न हैं पर अब कुछ दिन बीत जायँगे और पुत्रोंकी सुध न मिलेगी तब वे बड़ी ही चिन्तित होंगी। यथा—'गीतावलीमें'—*'मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिंगे। भूख पियास सीत श्रम सकुचनि क्यों कौसिकहि कहहिंगे॥ को भोर ही उबटि अन्हवैहै काढ़ि कलेऊ दैहै। को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन सुख लैहै॥ नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित पितु परिजन महतारी। ते पठये रिषि साथ निसाचर मारन मख रखवारी॥ सुंदर सुठि सुकुमार सुकोमल काकपक्ष धर दोऊ। तुलसी निरखि हरषि उर लैहौं बिधि ह्वैहै दिन सोऊ॥'* (पद ९९), *'ऋषि नृप सीस ठगौरीसी डारी। कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी॥ सिरिस सुमन सुकुमार कुँवर दोउ सूर सरोष सुरारी। पठए बिनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनुधारी॥ अति सनेह कातरि माता कहै……'* (पद १००)।

नोट—२ *'जननी भवन'* से कौसल्या और सुमित्रा दोनोंके यहाँ जाना भी हो सकता है। श्रीसुमित्राजी लक्ष्मणजीकी जननी हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'पुरुष सिंह दोउ'* अर्थात् दोनों भारी सामर्थ्यवान् हैं, जैसे सिंह निर्भय निशंक अकेले ही हाथियोंके समूहमें घुसकर उनके मस्तकोंको विदीर्ण कर डालता है, वैसे ही ये दोनों बिना सेना सहायकके ही *'असुर समूह'* जो मुनिको सताते हैं (जैसा मुनिने राजासे कहा था—*'असुर समूह सतावहिं मोही'*) उन्हींका नाश करने चले हैं और करेंगे। यथा—*'अवध नृपति दसरथके जाये। पुरुष सिंह बन खेलन आये॥ समुझि परी मोहि उन्हकै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी॥'* (आ० २२) *'पुरुष सिंह'* इति। (वाल्मी० ३। ३१) में इस रूपको मारीचने खूब निबाहा है। वह रावणसे कहता है कि यह मनुष्यसिंह सो रहा है। इसको जगाना अच्छा नहीं है। पुरुषोंमें सिंह इस रामचन्द्रका रणस्थलमें अवस्थान करना ही (इस सिंहके) सन्धि और बाल हैं। रणकुशल राक्षसगणरूपी गजेन्द्रोंका यह सिंह नाश करनेवाला है। यह शररूपी अङ्गोंसे परिपूर्ण है और तीक्ष्ण असि ही इसके दाँत हैं। यथा—**'असौ रणान्तः स्थितिसन्धिबालो विदग्धरक्षो मृगहा नृसिंहः। सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः॥'** (४७)] (ख) *'दोउ बीर'* अर्थात् ये संग्राममें सम्मुख लड़ाई करके राक्षसोंका वध करेंगे, छल आदिसे नहीं। (ग) *'हरषि चले'* से जनाया कि मुनिका भय हरण करनेमें दोनोंको उत्साह है। यात्रासमय मनमें हर्ष होना शकुन है, यथा—*'अस कहि नाइ सबन्ह कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥'*, *'हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भए सुंदर सुभ नाना॥'* इत्यादि। (घ) *'चले मुनि भय हरन'* इति। ☞यज्ञरक्षा और असुरसमूहके वधके हेतु दोनों भ्राता मुनिके साथ चले हैं, मुनिका भय दूर करने जा रहे हैं ये कार्य वीरोंके हैं। इसीसे यहाँ *'बीर'* और *'कृपासिंधु'* विशेषण दिये हैं। शत्रुका वध करनेमें बल और बुद्धि चाहिये। यहाँ वीरसे बल और मतिधीरसे बुद्धि दो विशेषणोंमें ही दोनों गुण दरसा दिये। यथा—*'ताहि मारि मारुत सुत बीरा। बारिध पार गयउ मतिधीरा॥'* (ङ) *'अखिल बिस्व कारन करन'* जो सकल विश्वके कारण हैं और

करनेवाले भी हैं अर्थात् विश्वके उपादान और निमित्त दोनों कारण आप ही हैं, जैसे घटका उपादान कारण पृथ्वी (मृत्तिका) है और निमित्त कारण कुलाल है। ये विशेषण देकर जनाया कि ऐसे भी जो प्रभु हैं वह अपने भक्तोंपर कृपा करके भक्तका भय हरने चले। तात्पर्य कि भक्तोंहीके लिये भगवान्‌का अवतार है, यथा—*'ऐसेउ प्रभु सेवक सब अहई। भगतहेतु लीला तनु गहई॥'* [बाबा रामदासजी लिखते हैं कि कारण दो प्रकारका है, नित्य और नैमित्तिक। पञ्चभूत, काल, कर्म, गुण, स्वभाव और माया इत्यादि नैमित्तिक कारण हैं। इन सबोंके कर्त्ता श्रीरामजी नित्य कारण हैं। इतने बड़े होकर भी वे भक्तोंके अधीन हैं। अथवा, *'अखिल बिस्व कारन'* वैकुण्ठ भगवान् हैं, उनके भी आप कारण हैं यह जनाया। यथा—*'रावन सो राजरोग बाढ़ेउ बिराट उर—'* (क)। मं० श्लो० ६ **'अशेषकारणपरम्'** देखिये। (अथवा, सम्पूर्ण विश्वके जो कारण हैं, उनके भी आप करनेवाले हैं। 'करण' का एक अर्थ 'अत्यन्त निकट साधक' भी है; यथा—**'करणं साधकतमं क्रियासिद्धौ प्रकृष्टो हेतुः'** अर्थात् क्रियासिद्धिमें जो एक अत्यन्त हेतु हो उसे करण कहते हैं।)] [अथवा, अखिल विश्वकारण प्रकृति है उसके भी अधिकरण हैं, आश्रय हैं। (वि० त्रि०)]

नोट—३ यहाँके सब विशेषण साभिप्राय हैं। *'पुरुषसिंह'* अर्थात् पुरुषोंमें शेर, बबर वा नरशेर हैं। असुरसमूह इनके सामने हाथीके समान हैं 'वीर' हैं, अतः सेना सहायककी आवश्यकता नहीं। मुनि-भय हरने जाते हैं, क्योंकि 'कृपासिंधु' हैं; यथा—*'अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥ निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥'* (३। ९) पुनः, भाव कि मुनिने अपनेको राजासे अनाथ सूचित किया था, यथा—*'निसिचर बध मैं होब सनाथा'* अतएव उनपर समुद्रवत् कृपा करके उनको सनाथ करेंगे। *'हरषि चले'* क्योंकि युद्धमें राक्षस-वधमें उत्साह है। माता-पिताके वियोगमें किञ्चित् क्लेश न हुआ। अतः *'मतिधीर'* कहा। इनके लिये असुरोंका वध कौन बड़ी बात है? क्योंकि ये तो *'अखिल बिस्व कारन करन'* हैं जो *'त्रिभुवन सक मारि जिआई।'* (रा० प्र० वै०)

नोट—४ वीरता पाँच प्रकारकी कही गयी है। वह पाँचों यहाँ प्रभुमें दिखायी गयी हैं। यथा—**'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदास्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥'** त्यागवीर हैं, अतः *'मतिधीर'* कहा। माता-पिताके वियोगका किञ्चित् भी दुःख न हुआ। दयावीर हैं, अतएव *'कृपासिंधु मुनिभय हरन चले'* कहा। *'हरषि चले'* तथा *'पुरुषसिंह'* से पराक्रम महावीर जनाया। मुनिभयहरण एवं यज्ञरक्षा धर्मके कार्य हैं, अतएव इनसे धर्मवीर जनाया। विद्यावीर तो पूर्व ही कह आये हैं कि *'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी।—'* इत्यादि, और आगे बाणविद्यामें निपुणता दिखाते हैं कि एक ही बाणसे ताड़काका वध कर डाला; पुनः अखिल विश्वके कारण एवं करण हैं इससे 'विद्यावीर' हुए।

नोट—५ सेना और सेवक साथ क्यों न भेजे? इसका एक कारण यह कहा जाता है कि ताड़का, मारीच और सुबाहुको किसी मुनिका शाप था कि बालक विरथियोंके हाथोंसे निरादरपूर्वक तुम्हारी मृत्यु होगी। और कारण यह है—(२) प्रभुका प्रताप और ऐश्वर्य गुप्त रखनेके विचारसे मुनि इनको पैदल ले गये। (३) सेना और रथ साथ होनेसे सम्भव था कि निशिचर युद्ध करने न आते (तो भी मुनिका प्रयोजन सिद्ध न होता) और इनका वध आवश्यक था। अतएव बिना सेना इत्यादिके गये। (४) पूर्व लिख आये हैं कि सेनासे इनका वध हो न सकता था, सेना मारी जाती, व्यर्थका पाप मुनिको होता। अतः सेना न ली। रामजी मुनिके साथ हैं, जैसे मुनि रहते हैं वैसे ही ये भी रहेंगे। मुनिके साथ रहकर किसीसे सेवा कराते न बनेगी, इसीसे सेवक न लिये। मुनि पनही (जूती, पदत्राण) नहीं पहिनते, सवारीपर नहीं चढ़ते, इसीसे आपने भी सवारी न ली, न पदत्राण पहिने। (पं० रा० कु०) (६) इस लीलाका विधान कल्प-कल्पमें ही रहता है। (७) जब मुनिको पितृत्व सौंप दिया तब सेना आदि साथ करना अयोग्य था; क्योंकि इससे यह सिद्ध होता कि अभी उन्होंने पितृत्व नहीं दिया, तभी तो पुत्रोंकी रक्षाका उपाय स्वयं कर रहे हैं, मुनिपर विश्वास नहीं है। (८) सत्योपाख्यानके पूर्वोक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि राजाने आशीर्वादमात्रको उनका रक्षक समझकर सेना आदि साथ न दी।

नोट—६ यहाँ वीररसका स्वरूप वर्णन किया गया। जबतक निशिचरोंका वध और मुनिके यज्ञकी रक्षा निर्विघ्न न हो जायगी तथा अहल्योद्धार कर जबतक जनकपुर न पहुँचेंगे तबतक ग्रन्थकार युगल सरकारोंके लिये शृङ्गार या वात्सल्यके पद—जैसे—राजकिशोर, किशोर, राजकुमार, कुँवर, सुत, बाल इत्यादिका निर्देश न करेंगे। क्योंकि वनमें वीरताका काम है, माधुर्यका नहीं। हाँ! मुनिके हृदयमें महाराजा दशरथके संयोगसे, वात्सल्यरसकी छाया जम गयी है। जबतक दोनों भाई मुनिके साथ वनमें रहेंगे तबतक कवि रघुराया, प्रभु, रघुवीर और रघुपति आदि वीरता और ऐश्वर्यसूचक शब्दोंसे निर्देश करेंगे।' (पं० रा० च० मिश्र)

नोट—७ विश्वामित्रजी नवमीको आये और द्वादशीको श्रीअयोध्याजीसे गये।

अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलज तनु स्याम तमाला॥ १॥
कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहु हाथा॥ २॥

अर्थ—नेत्र लाल हैं। छाती (वक्ष:स्थल) चौड़ी और भुजाएँ लम्बी हैं। नील कमल और श्याम तमाल वृक्षका-सा श्याम शरीर है॥ १॥ कमरमें पीताम्बर है जिसमें श्रेष्ठ तरकश कसे हुए हैं। दोनों हाथोंमें सुन्दर धनुष-बाण (धारण किये) हैं॥ २॥

☞ यह ध्यान वीररसका है। इसीसे इसमें नेत्रोंकी अरुणतासे उठाकर कटितकका वर्णन है। वीररसका वर्णन कटिसे सिरतक या सिरसे कटितक होता है। मुनिकी सहायता करने चले हैं, इसीसे वीररूपका वर्णन करते हैं। यह प्रथम-दिग्विजयकी यात्रा है।

टिप्पणी—१ (क) लाल नेत्र, विशाल हृदय और विशाल भुजाएँ शत्रुको भयदायक हैं। श्यामगात भक्तोंका भय मोचन करनेवाला है; यथा—*'स्यामल गात प्रनत भय मोचन॥'* (५। ४५) [पं० रामकुमारजी *'नील जलद'* पाठको उत्तम मानते हैं। वे लिखते हैं कि भगवान् परोपकार करने चले हैं, इसीसे मेघ और वृक्ष परोपकारियोंकी उपमाएँ यहाँ दी गयीं। नील मेघकी गम्भीरता और तमालकी श्यामता यहाँ कही गयी।]

नोट—१ *'तमाल'*—यह सुन्दर सदाबहार वृक्ष पंद्रह-बीस हाथ ऊँचा होता है और अधिकतर पर्वतोंपर और जहाँ-तहाँ यमुनातटपर पाया जाता है। यह दो प्रकारका होता है, एक साधारण दूसरा श्याम, श्याम तमालकी लकड़ी आबनूसकी-सी होती है, पर यह कम मिलता है। इसके फूल लाल, पत्ते गहरे हरे शरीफेके पत्तेसे मिलते-जुलते होते हैं। इस नामका एक वृक्ष हिमालय और दक्षिण भारतमें भी होता है। (श० सा०)

टिप्पणी—२ (क) *'कटि पट पीत'* इति। पीतवस्त्र वीरोंका बाना है। (पुन: भगवान्‌को पीताम्बर प्रिय है। पीताम्बर उनका एक नाम भी है। इसीसे जहाँ ध्यानका वर्णन होता है वहाँ पीताम्बरको भी कहते हैं।) *'बर भाथा'* कहकर अक्षय तूणीर सूचित किया। तरकशकी श्रेष्ठता यही है कि कितने ही बाण उसमेंसे निकाले जायँ वह कभी चुकै नहीं, खाली न हो। *'रुचिर चाप सायक'*— धनुष और बाण सुन्दर हैं। धनुषकी सुन्दरता यह है कि शत्रुके काटे न कटे और बाणकी सुन्दरता यह है कि किसी भी शस्त्रास्त्रसे न रुके और निष्फल वा व्यर्थ न जाय, अमोघ और अचूक हो। यथा—*'जिमि अमोघ रघुपति के बाना'*। हनु० अंक ७ श्लोक ८ **'सुवर्णपुंखाः सुभटाः सुतीक्ष्णा वज्रोपमा वायुमनः प्रवेगाः।'** (अर्थात् सुवर्णके पंखोंवाले, अमोघ, अत्यन्त तीक्ष्ण वज्रके सदृश, पवन और मनके तुल्य वेगवाले) के सब विशेषण *'रुचिर'* सायक कहकर जना दिये। पुनः, रुचिरता यह भी है कि इनसे मारे हुए जीव सद्गतिको प्राप्त होते हैं; यथा—*'जे मृग रामबान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥'* (२०५। ३) *'रघुबीर सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहैं सही।'* (५। ३), *'दुहुँ हाथा'* अर्थात् दक्षिण हाथमें बाण है और वाममें धनुष है। धनुष-बाण हाथोंमें लिये कहकर सावधान सजग जनाया।]

नोट—२ जहाँ-जहाँ शत्रुपर चढ़ाईका वर्णन है प्रायः वहाँ ऐसा ही ध्यान वर्णन किया गया है, यथा—*'आयसु माँगि राम पहिं अंगदादि कपि साथ। लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ॥'* (६। ५१),

छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तन कछु एक लाला॥' तथा यहाँ *'अरुन नयन उर बाहु बिसाला।......रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा।......'।* इत्यादि।—यह वीररूपका वर्णन है। (६। ५१) में लक्ष्मणजीका ध्यान है; इससे वहाँ *'हिम गिरि निभ तनु'* अर्थात् गौर वर्ण कहा गया पर साथ ही *'कछु एक लाला'* कहा जो वीररसके कारण हैं।

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥ ३॥
प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति[१] पिता तजेउ भगवाना॥ ४॥

शब्दार्थ—**ब्रह्मन्यदेव**=ब्राह्मण ही हैं देवता जिनके; निर्हेतु ब्राह्मणोंको माननेवाले। **निति**=लिये। यह 'निमित्त' का अपभ्रंश है।

अर्थ—एक श्याम, दूसरे गौर, दोनों सुन्दर भाइयोंको पाकर विश्वामित्रजी (मानो) महानिधि पा गये॥ ३॥ (वे मन-ही-मन सोचते हैं कि) मैंने निश्चय जान लिया कि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं। मेरे लिये भगवान्‌ने अपने पिताको भी छोड़ दिया॥ ४॥

पं० राजारामशरण लमगोड़ाजी—याद रहे कि हर सभ्यतामें कोई-न-कोई मुख्य गुण पूज्य माना जाता है। जैसे—अमेरिकामें 'डालर' (Dollar) द्रव्य, इंग्लैंडमें 'वाक्शक्ति'। (पारलियामेंटका अर्थ ही है 'वक्तृताका स्थान') पाश्चात्त्य सभी देशोंमें पशुबल 'बल' (Brute force) पूज्य है और उसका फल भी सामने है। आर्यसभ्यतामें ब्राह्मणशक्ति (Spiritual power) ही पूज्य थी। यहाँ उस शक्तिको न तो अलग (करके) निष्फल ही किया था (no Vaticanizing) और न राज्य और ब्राह्मण्य शक्तियोंको मिलाकर गड़बड़ किया गया था (no Khilafat); बल्कि क्षात्रशक्ति शासन करती थी पर ब्राह्मण्यशक्तिके उपदेशोंके अनुसार। डाक्टर भगवानदासजी ठीक कहते हैं कि कानून बनानेवाले (Legislators) किन्हीं व्यक्तिसमूहोंके स्वार्थके प्रतिनिधि (Representatives of particular interests) न होने चाहिये बल्कि उनका निःस्वार्थ (Disinterested) होना ही ठीक है (विस्तारसे देखना हो तो डाक्टर भगवानदासजीके ग्रन्थ देखिये)।

ब्राह्मण संसारके निष्काम सेवक थे, इसीसे उनकी शिक्षा भी वैसी ही होती थी। (गुरुकुल कांगड़ीके एक अभिनन्दनपत्रमें उन्हें (Selfless Servants of Humanity) कहा गया था और ठीक कहा गया था। श्रीजवाहरलालजीने भी अपनी आत्मकथामें ब्राह्मणत्वका कुछ ऐसा ही आभास दिखाया है।) जब वे द्रव्योपार्जन नहीं करते थे तो क्या राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिका दानद्वारा उनकी सेवा करना धर्म नहीं? फिर दान लेकर वे दानहीमेंसे तो दे डालते थे। यदि ऋषियोंको कभी भी यह खयाल होता कि अकृतज्ञ राष्ट्रमें आगे उनकी संतान भूखों मरेगी तो इतने धर्मग्रन्थ, शास्त्र इत्यादि लिखनेमें कदाचित् उनका मन न लगता। यदि कोई तनिक आविष्कार करता है तो उसे राष्ट्र पेटेन्ट देकर कृतज्ञता दिखाता है तो फिर ब्राह्मणोंका पालन और पूजन क्यों न हो, जिन्होंने सारी विद्याओंके आविष्कार किये, ग्रन्थ रचे और शिक्षा-दीक्षाका भार अपने ऊपर रखा। कुछ विस्तारसे लिखनेका प्रयोजन यह है कि फिर बारम्बार न कहना पड़े। क्योंकि रामराज्यमें *'कवच अबेध्य (अभेद) बिप्र गुर-पूजा'* ही माना गया है।

टिप्पणी—१ (क) *'स्याम गौर सुंदर दोउ भाई'* इति। यहाँतक दो अर्धालियोंमें केवल श्रीरामजीका वर्णन करके इस अर्धालीमें श्रीलक्ष्मणजीका रङ्गमात्र वर्णन किया। इससे यह जनाया कि जो वर्णन श्रीरामजीका है—*'अरुन नयन उर बाहु बिसाला। कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा॥'* वही वर्णन श्रीलक्ष्मणजीका भी है, पर उनका रंग पृथक् है, इसीसे रंगको पृथक् वर्णन किया। श्रीरामजीकी श्यामता दो बार वर्णन की—*'नील जलज तन स्याम तमाला'* और *'स्याम गौर सुंदर दोउ भाई।'* प्रथम रूपवर्णनमें तनकी श्यामता कही और दूसरी बार श्याम-गौर दोनोंके एकत्र होनेकी शोभा कही। (ख) दोनों भाइयोंका श्याम-गौर वर्ण कहकर महानिधिका पाना कहा। कारण कि नवनिधियोंमेंसे दो निधियाँ श्याम गौर हैं—नील और शङ्ख। श्रीरामजी नीलनिधि हैं और श्रीलक्ष्मणजी शङ्खनिधि हैं। नवनिधियाँ,

१. हित=को० रा०। निति—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ० 'निति' अवधप्रान्तकी बोली है।

यथा—'**महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलश्च खर्बश्च निधयो नव॥**' (विशेष दोहा २२०। २ देखिये)। (ग) निधि राजाके यहाँ होती है। श्रीराम-लक्ष्मणजी भी राजाके यहाँ थे, राजासे मुनिको प्राप्त हुए; इसीसे '*निधि पाई*' निधिका पाना कहा। राजाने निधि देनेको कहा था; यथा—'***माँगहु भूमि धेनु धन कोषा।***' यह कहकर फिर राजाका देना कहा, यथा—'***सौंपे भूपति रिषिहि सुत***—'। और अब मुनिका पाना कहते हैं,—'***बिश्वामित्र महानिधि पाई***'। साधुओंके धन भगवान् ही हैं, इसीसे भगवान्के पानेपर '***महानिधि***' का पाना कहा। [(घ) निधियाँ जड़ हैं, अनित्य हैं और भगवान् नित्य हैं, सच्चिदानन्दघन हैं। निधियोंसे अत्यन्त अधिक हैं, उन्हींसे सब निधियाँ हैं। अतएव उनको '***महानिधि***' कहा। (ङ) बैजनाथजी लिखते हैं कि विश्वामित्र पूर्णकाम हो गये मानो संख्यारहित धन पा गये।]

टिप्पणी—२ (क) '***मोहि निति पिता तजेउ***—' इति। जैसे पिता दशरथजी श्रीरामजीको नहीं त्याग करते थे, वसिष्ठजीके समझानेपर ही पुत्रोंको मुनिके सुपुर्द किया था; वैसे ही श्रीरामजी पिताको प्राणसमान जानकर न त्याग करते, क्योंकि भगवान्का वचन है कि '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'। पर भगवान्ने ऐसा न किया। [इन वचनोंसे ज्ञात होता है कि मुनिको संदेह था कि भगवान् साथ आवेंगे या न आवेंगे। वे सोचते हैं कि 'यद्यपि राजाने दे दिया था तथापि वे कह सकते थे कि हम अभी युद्धके लायक नहीं हैं, हम न जायेंगे तो हमारा कौन वश था? पर कैसी प्रसन्नताके साथ माता-पिताको त्यागकर वे हमारे साथ चले आये।'] ये अवश्य ही ब्रह्मण्यदेव हैं। इसमें अब किञ्चित् संदेह नहीं। मुझ ब्राह्मणके लिये तुरत प्रसन्नतापूर्वक तैयार हो गये। [पुनः, 'ब्रह्मण्यदेव' कहकर अपने ब्राह्मणत्वका अहंकार जनाते हैं। (रा० च० मिश्र)] इसपर प्रश्न हो सकता है कि श्रीरामजी साथ जानेसे इनकार करते तो राजा क्या अप्रसन्न न होते कि हमारी आज्ञा न मानी? इसका उत्तर यह होगा कि राजा बहुत प्रसन्न होते। क्योंकि जिनके प्रेमके लिये राजाने उन्हें देनेमें 'नहीं' कर दिया वे स्वयं यदि राजाके प्रेमके कारण न जाते तब राजा अप्रसन्न क्यों होते? उनके मनकी ही हो जाती, इससे वे अत्यन्त प्रसन्न होते। यथा—'***बचन मोर तजि रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु।***' (२। ४४) इसीसे मुनि सोचते हैं कि '***मोहि निति पिता तजेउ***'। ***निति***=निमित्त। यहाँ मध्यम अक्षरका लोप है। (ख) 'भगवान्' कहकर जनाया कि ये केवल पिताके भेजनेसे नहीं आये वरंच मेरी हार्दिक इच्छा जानकर अपने मनसे आये। 'भगवान्' हैं अर्थात् समग्र ऐश्वर्यसे परिपूर्ण हैं, अतएव वे किसी अटकसे नहीं आये, कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो उनके पास न हो, जिसकी उन्हें जरूरत हो। वे तो पूर्णकाम हैं। किसीकी अपेक्षा करके हमारे साथ आये हों यह बात नहीं है। [पुनः, भगवान्का भाव कि षडैश्वर्य-सम्पन्न होकर भी सब सुख छोड़ हमारे साथ कष्ट उठा रहे हैं। जंगली मार्गमें पैदल चल रहे हैं। (रा० च० मिश्र)]।

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥ ५॥

अर्थ—मार्गमें जाते हुए मुनिने ताड़काको दिखा दिया। सुनते ही वह क्रोध करके दौड़ी॥ ५॥

नोट—१ वाल्मीकीयमें कहा है कि मुनिके साथ जब दोनों भाई एक भयानक वनमें पहुँचे तब उन्होंने उस वनका नाम आदि पूछा। मुनिने बताया कि पूर्व वे बड़े हरे-भरे मलद और कारूष देश थे। ताटका राक्षसी जो यहाँसे आधे योजनपर निवास करती है, उसने इन देशोंको उखाड़ डाला; तबसे ये भयानक वन हो गये। हम लोग ताटका-वनसे होकर चलें। तुम उसका वध करो। (और, अ० रा० में ताटका-वनमें पहुँचनेपर श्रीरामजीसे कहना लिखा है)। मुनिके वचन सुनकर उन्होंने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर तीव्र टंकार किया जिससे सब दिशाएँ गूँज उठीं। इस शब्दको सुनकर ताड़का क्रोधित और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठ दौड़ी। (वाल्मी० १। २४। १३ से १। २६। ८ तक, अ० रा० १। ४। २६—२८)। वाल्मीकीयमें ताटकाका अनेक माया करना भी लिखा है और अ० रा० में ताड़काके आते ही श्रीरामजीका उसे एक ही बाणसे मार डालना कहा है जो मानसके मतसे मिलता है।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंमें 'ताटकाको दिखाना' नहीं कहा गया है, किन्तु टंकार सुनकर उसका आना

और मारा जाना कहा है। और, मानसमें *'मुनि दीन्हि देखाई'* कहकर तुरत *'सुनि ताड़का'* शब्द कहे गये हैं। *'चले जात'* से सूचित करते हैं कि ताड़का मार्गमें मिली। ताटका-वनमें ताटकाका निवास और उसका तथा उसकी दुष्टताका परिचय पूर्व ही करा दिया गया था, यह बात *'दीन्हि देखाई'* के साथ ही *'सुनि ताड़का'* का उल्लेख करके जना दी गयी। यह दिखाना केवल अपनी आज्ञामें तत्पर करनेके लिये है। *'सुनि'* शब्दसे यहाँ प्रसंगानुकूल यही बोध होता है कि मुनिने केवल दिखाया ही नहीं किन्तु और भी कुछ कहा जो ताड़काने सुना। क्योंकि दिखानेके बाद टंकारको सुनना उपयुक्त नहीं जँचता। *'दीन्हि देखाई'* से उसका बहुत निकट होना सूचित होता है। *'सुनि'* से जनाया कि मुनिने उसकी ओर अङ्गुल्यानिर्देश करते हुए कहा कि देखो, यही वह ताड़का है, इसपर दया न कीजिये। यही सुनकर वह बड़े क्रोधसे दौड़ी (पं०, वै०, रा० प्र० का भी यही मत है)।

संत श्रीगुरुसहायलालजी नृसिंहपुराणका प्रमाण देकर लिखते हैं कि मुनिने यह कहा—'हे राम! हे राम! हे महाबाहो! ताड़का राक्षसी रावणकी आज्ञासे इस वनमें रहती है। इसने बहुत-से मनुष्यों, मुनिपुत्रोंको मार खाया है, इसे आप मारिये।' यथा—'**राम राम महाबाहो ताटका नाम राक्षसी। रावणस्य नियोगेन वसत्यस्मिन्महावने॥ तथा मनुष्या बहवो मुनिपुत्रा मृगास्तथा। निहिता भक्षिताश्चैव तस्मात्त्वं जहि सत्तम॥**' इस प्रकार उसका दिखा देना सुनकर ताड़का क्रुद्ध हो दौड़ी। *'दीन्हि देखाई'* के पीछे *'सुनि'* ' शब्द देकर गोस्वामीजीने पिता एवं गुरुकी मर्यादाका पालन किया है। आपने प्रश्नोत्तरका प्रसङ्ग ही दूर करके गुरु-आज्ञा-पालनकी मर्यादाका निर्वाह कैसा विचित्र किया है! साथ ही इन्हीं शब्दोंमें वाल्मीकि आदि ऋषियोंकी वाणीकी भी रक्षा कर दी गयी है।

पं० रामचरण मिश्रजीका मत है कि *'चले जात'* से मुनिकी भयभीतता सूचित होती है। यह भाव *'एकहि बान प्रान हरि लीन्हा'* को भी पुष्ट कर रहा है। प्रत्यञ्चाकी टंकारका शब्द सुनकर क्रोधकर धायी हुई ताड़काको *'मुनि दिखाई दीन्ह'* इस प्रकार अन्वय करनेसे शंका नहीं रहती। यह बात अन्य रामायणोंसे सिद्ध है कि वनमें प्राप्त होते ही प्रभुने प्रत्यञ्चा चढ़ाया, उसकी टंकार वनभरमें गूँज उठी। उसीको सुनकर ताड़का दौड़ी आयी। *'दीन्हि देखाई'* केवल उसके मारनेके लिये। वहाँ प्रश्नोत्तरका मौका ही नहीं है। दिखा देना ही वधकी आज्ञासूचक है। सत्योपाख्यानमें भी टंकार सुनकर आना लिखा है। (उत्तरार्ध ४। ४४)

एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामजीने एक ही बाणसे उसके प्राण हर लिये और दीन जानकर उसको *'निज पद'* दिया॥ ६॥

टिप्पणी—(क) *'एकहि बान'* इति। जब भगवान् क्रीड़ा करते हैं तब अनेक बाण चलाते हैं, नहीं तो एक ही बाणसे काम लेते हैं; यथा—'**द्विशरं नभिसंधत्ते द्विस्थापयति नाश्रिताम्।**' (हनु०ना० १। ४८) अर्थात् श्रीरामजी दो बाण नहीं चलाते और अपने आश्रितको दो बार स्थापित नहीं करते। पुनः *'एकहि बान'* का भाव कि ताड़का एक बाणसे मरनेवाली न थी। अनेक बाणोंसे मारे जानेपर कहीं मरती तो मरती। श्रीरामजीने उसे एक ही बाणसे मार डाला। इस कथनसे रामबाणकी प्रबलता दिखायी। [☞मुनिजी बहुत डरे हुए हैं, इससे निशिचरोंको अपने अत्यन्त पराक्रमकी सूचना देने एवं गुरुकी आज्ञामें अपना अनुराग और तत्परता जनाने तथा मुनिका भय हरण करनेके लिये, एक ही बाणसे उसको समाप्त किया। अथवा, यह सोचकर कि कहीं वह स्त्रीवधका दूषण न कहने लगे जिससे उस दुष्टासे सम्भाषणकी नौबत आवे, वा, कहीं वात्सल्यवश मुनिको सन्देह न हो, उसे सद्यः एक ही बाणसे मार डाला। वाल्मीकीय तथा नृसिंहपुराणसे स्पष्ट है कि श्रीरामजीने शंका की थी कि स्त्रीवध कैसे करें, यह महापाप है। उसपर मुनिने कहा कि इससे सब प्राणी व्याकुल हैं, अतः इसके वधसे पुण्य होगा। यथा—'**अस्यास्तु निधनाद्राम जनाः सर्वे निराकुलाः। भवन्ति सततं तस्मात् तस्याः पुण्यप्रदो वधः॥**' (नृ० पु०, मा० त० वि०)। अथवा, देरतक रणक्रीड़ा करते रहनेसे कदाचित् वह शरणमें आ जाय तो उसको फिर मार न सकेंगे और उसका वध आवश्यक है क्योंकि गुरुकी आज्ञा है। अतः एक ही बाणसे मारा। अथवा, स्त्री है इसको बहुत

बाणों-द्वारा पीड़ित करना ठीक नहीं, उसपर दया करके एक ही बाणसे मारा। (पं०)। (ख) *'दीन जानि'*— यह यक्षिणी थी।[अगस्त्यजीके शापसे पिशाचिनी और दुष्टा हो गयी थी। पिशाचिनी अपना पद पानेमें दीन है। शापित होनेसे उसे दीन जाना। (मा० त० वि०)। पुनः, अबला और विधवा दीन होती हैं, यह दोनों है। अतएव *'दीन'* कहा। (पं०)। वा, परलोकपथसाधनमें सर्वथा हीन है, इसमें शुभकर्मोंका लेश भी नहीं है, यह केवल पापरूपिणी है, हमको छोड़ इसकी मुक्तिका अवलम्ब और कुछ भी नहीं है, इस प्रकार दीन जानकर गति दी। (बाबा हरीदास)।] (ग) *'निज पद दीन्हा'* इति। अर्थात् वह पूर्वानुसार परम सुन्दरी यक्षिणी हो गयी। यथा—'**ततोऽति सुन्दरी यक्षी सर्वाभरणभूषिता। शापात्पिशाचतां प्राप्ता मुक्ता रामप्रसादतः॥**' (अ० रा० १। ४। ३१) पुनः,*'निज पद'* पाना रामबाणका माहात्म्य ही है। अतः *'निजपद दीन्हा'* कहा। [गोस्वामीजीने यहाँ *'निजपद'* देकर सब मतोंकी रक्षा की है। परब्रह्म परमात्मा रामजीके बाणसे फिर भव नहीं रह जाता, मुक्ति हो जाती है। उस अवतारमें अर्थ होगा कि मरते हुए दिव्य रूप धारण कर परधामको प्राप्त हुई। **निजपद**=हरिपद, हरिधाम। अन्य रामावतारोंमें, 'निज पद'=यक्षिणीरूप। जो अध्यात्म आदिका मत है। सत्योपाख्यानमें स्वर्गकी प्राप्ति कही है—'**देहं त्यक्त्वा च स्वर्गगता।**' (उत्तरार्ध अ० ४। ३२)

नोट—१ स्त्री अवध्य है। शास्त्रकी आज्ञा है कि न तो उसको मारे, न उसका अङ्ग-भङ्ग करे। तब यहाँ ताड़काका वध क्यों किया?' पं० रामकुमारजी आदि अनेक टीकाकारोंने यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह दिया है कि गुरु आदिका वचन श्रेष्ठ है, परम धर्म है। यथा—*'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥'* (७७। ३-४) (शङ्करवाक्य), *'गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भल जानी॥ उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिरु पातक भारू॥'* (अ० १७) गुरुवचन मानकर स्त्रीका वध किया। (पं० रा० कु०) परंतु इसमें फिर यह शंका करके कि शूर्पणखाके नाक-कान काटनेमें तो किसीकी आज्ञा न थी, वहाँ यह उत्तर काम न देगा? उसका समाधान यह करते है कि आततायीका वध उचित है। आततायी छः प्रकारके हैं। उनमेंसे एक स्त्री-अपहरण करनेवाला भी है; यथा—'**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः।**' वह राजकुमारीको खाने दौड़ी थी। सत्योपाख्यानसे भी यही बात सिद्ध होती है कि गुरुकी आज्ञासे मारा, यथा—**कौशिकेन समाज्ञप्तः शरं धनुरुपाददे। घृणया स तदा बाणं मुमोच ताडकोरसि।**' (उत्तरार्द्ध अ० ४। ४८) वाल्मी० १। २६ में श्रीरामजीने स्वयं मुनिसे कहा है कि मेरे पिताने मुझे यही उपदेश किया था कि विश्वामित्रके वचनोंका कभी तिरस्कार न करना, उनकी आज्ञाका पालन करना। आप ब्रह्मवादी हैं। मैं आपकी आज्ञासे उसका वध करूँगा। इससे भी गुरुकी आज्ञा मुख्य है।

नोट—२ (क) वाल्मीकीयमें श्रीरामजीके संकोच करनेपर विश्वामित्रजीका विस्तृत समाधान है। '**नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम। चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना॥**' (१। २५। १७) पुनः, नृसिंहपुराणे यथा—'**इत्येवमुक्तो मुनिना रामः सस्मितमब्रवीत्। कथं तु स्त्रीवधं कुर्यामहमद्य महामुने॥ स्त्रीवधे तु महत्पापं प्रवदन्ति मनीषिणः। इति रामवचः श्रुत्वा विश्वामित्र उवाच तम्॥ अस्यास्तु निधनाद्राम जनाः सर्वे निराकुलाः। भवन्ति सततं तस्मादस्याः पुण्यप्रदो वधः॥**'—सारांश यह कि जब किसी दुष्टा स्त्रीके वधसे चारों वर्णोंका हित हो तो उसका वध करना राजाका कर्त्तव्य है, इसने बहुतेरे मनुष्यों, मुनियों आदिको मार खाया है, इसके वधसे सदाके लिये लोग दुःखसे छूट जायेंगे और तुमको पुण्य होगा। (ख) जो कोई भी अस्त्र-शस्त्र लेकर सम्मुख आकर आक्रमण करे और जिससे प्रजापालनमें विघ्न होता हो उसका वध उचित है, चाहे वह मित्र, गुरु आदि ही क्यों न हो। अतएव ताड़काका वध किया गया। यथा—'**मित्रं वा बान्धवो वापि पिता वा यदि वा गुरुः। प्रजापालनविघ्नाय यो हन्तव्यः स भूभृता।**' (मार्क० पु०, पं०)। (ग) इसके वधसे अन्य सब दुष्टोंको भय होगा कि जब इन्होंने अवध्याको न छोड़ा तब हमपर दया कब करने लगे। (पं०) (घ) अधमा नारीसे अधम ही पैदा होंगे, यह सोचकर वध किया। (रा० प्र०)

नोट—३ (क) 'निशिचरोंसे युद्धका यहाँसे अथश्री वा श्रीगणेश हुआ, पहले स्त्रीपर हाथ चलाना अमङ्गल

है? यह शंका उठाकर पंजाबीजी तथा हरिहरप्रसादजीने उसका समाधान यह किया है कि 'अविद्याके नाशसे कामादिक नष्ट हो जाते हैं, प्रथम अविद्याका नाश करना जरूरी है। ताड़का अविद्यारूपिणी है। नामवन्दनामें ताड़काको दुराशासे रूपक दिया है;—'*सहित दोष दुख दास दुरासा।*' इसके वधसे और निशिचरोंका भी वध होना सिद्ध किया।' क्योंकि दुराशाके नाशसे कामादि शेष आसुर-सम्पत्तिका नाश सुगमतासे हो जाता है।

(ख) ☞ बिना तामसी वृत्तिका संहार किये कोई पुरुष वीर नहीं कहला सकता। सम्भवतः यही कारण है कि संसारके सर्वश्रेष्ठ वीरोंने पहले दुष्टा स्त्रियोंपर ही हाथ साफ किया। इन्हींसे दुष्टदलनका श्रीगणेश किया। श्रीरामजीने ताटकाका, श्रीहनुमान्‌जीने सिंहिकाका और श्रीकृष्णजीने पूतनाका वध किया।

प० प० प्र०—ताटका और पूतना दोनों स्थूलदेहबुद्धिके प्रतीक हैं। जबतक स्थूलदेहबुद्धिका विनाश नहीं होता तबतक उसके पुत्र-पौत्र-परिवारादिका विनाश असम्भव है। कारणदेह (अज्ञान) का तो संहार ही करना पड़ता है और वह ज्ञानरूपी पवित्र बाणसे ही हो सकता है। अतः '*पावक सर सुबाहु पुनि मारा*'—'**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते॥**' (गीता ४। ३८) '**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः॥**' (गीता ५। १६) मारीच सूक्ष्म वा लिङ्गदेह है। इसका विनाश तो प्रारब्धक्षय होनेपर ही होता है, अतः उसको मारा नहीं जाता। अन्तःकरणको ब्रह्माकार, रामाकार बनाना ही इसका नाश है। सूक्ष्मदेहके सहारेसे ज्ञानोत्तर भक्तिकी और भजनकी सम्भावना रहती है। अतः इसको दूर फेंक दिया। इसके मनको रामाकार बना दिया है। ऐसे आध्यात्मिक अर्थोंके श्रीमानसमें जैसे भरपूर और शास्त्रशुद्ध आधार मिलते हैं, वैसे वाल्मी०, अ० रा० आदिमें नहीं है। श्रीरामने ताटकाका सुत, परिवार, सेनासहित विनाश किया और गति दी, वैसे ही श्रीकृष्णने पूतनाका शरीर नाश किया और गति दी।

तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्ही। बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥ ७॥
जाते लाग न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु तेज प्रकासा॥ ८॥

अर्थ—तब ऋषिने जी-से अपने स्वामीको पहिचानकर उन विद्यासागरको (वह) विद्या दी॥ ७॥ जिससे भूख-प्यास न लगे और शरीरमें अमित बल और तेजका प्रकाश हो॥ ८॥

नोट—१ मुनिके पूर्व वाक्य ये हैं। '*प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा*', '*प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना।*' इनसे मुनिका प्रभुको जानना स्पष्ट है। तो अब '*तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्ही*' किस भावसे कहा गया? इस शंकाको उठाकर महानुभावोंने उसका समाधान यह किया है—(१) प्रथम दोनों चौपाइयोंमें जो जानना कहा गया वह विष्णुबुद्धिसे और अब '*निज नाथहि चीन्ही*' जो कहा गया वह परब्रह्मभावसे कहा गया। अर्थात् अब जाना कि ये परात्पर परब्रह्म हैं। (रा० प्र०) (२) विश्वामित्रको ईश्वरत्वज्ञान पहले तो यथार्थ था, परंतु जब श्रीदशरथजीने पुत्रोंको सौंपकर कहा कि '*तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ*' तबसे वात्सल्य-रसकी अधिकता हो गयी; इस कारण मुनि इनके वात्सल्यमें ऐश्वर्य भूल गये, जिसका प्रमाण गीतावलीमें है। यथा—'*पैठत सरनि सिलनि चढ़ि चितवत खग मृग बन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बोलाई॥*' (५०), '*खेलत चलत करत मग कौतुक बिलँबत सरित सरोबर तीर। तोरत लता सुमन सरसीरुह पियत सुधासम सीतल नीर॥ बैठत बिमल सिलनि बिटपनि तर, पुनि पुनि बरनत छाँह समीर। देखत नटत केकि कल गावत मधुप मराल कोकिला कीर॥*' (५४) फिर जब एक ही बाणसे ताड़काका प्राण हर लिया तब फिर ऐश्वर्यकी स्मृति हो आयी कि ये ईश्वर हैं। (वन्दनपाठकजी) (३) यहाँ वात्सल्यरस प्रधान है क्योंकि इस रसके उदय होते ही ऐश्वर्यका आभास मिट जाता है। जैसे श्रीमद्भागवतमें अक्रूरजी यमुनामें निमग्न होके ऐश्वर्य देखनेपर भी रथारूढ़ कृष्णके वात्सल्यसे ऐश्वर्य भूल गये। ऐसे ही भुशुण्डि और लोमश आदि भी भूल गये। (रा० च० मिश्र) (४) माधुर्यलीला देखकर मुनिको भ्रम था, वह भ्रम अब ताड़कावधसे दूर हो गया, क्योंकि ताड़काका मारना 'अमानुष' कर्म है। यथा—कौसल्यावाक्यसे—'*मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥*......३५६॥......' '*सकल अमानुष करम तुम्हारे।*' माधुर्यलीलामें भ्रम हो जाना आश्चर्य नहीं है; यथा—'*निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित*

सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥' (७। ७३) पुनः *'जिय चीन्ही'* का भाव कि पूर्व वेद-पुराणादिसे जानते थे, सुने थे पर जब ताड़काको एक बाणसे मार डाला तब 'जियमें चीन्हे'। (पं० रामकुमार) (५) पहले 'जगत्का नाथ' जानते थे अब *'निज नाथ'* जाना—यह भेद पहले और अबके जाननेमें है। (६) 'मार्गमें चलते हुए दोनों भाई बालकेलि करने लगे, उसीसे मुनि ऐश्वर्य भूल गये, जैसा गीतावलीके उद्धरणमें दिखा आये हैं। मुनिको बड़ा ज्ञानी जान उनको भुला दिया। जब दीन अधीन हुए तब शीघ्र ताड़कावधसे ऐश्वर्य जना दिया। पहले मुनिको ज्ञान, तपोबल और अस्त्र-शस्त्र आदिका मनमें अभिमान था, वह नष्ट हुआ और प्रभुमें विश्वास हुआ तब सब समर्पण कर दिया। (शीलावृत्त) (७) *'अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा॥'* जाननेपर भी यह शंका थी कि इस सुकुमार शरीरसे और इस अवस्थामें निशाचरवध कर सकेंगे या नहीं। जब प्रत्यक्ष ही देखा कि केवल केलिधनुहीसे एक ही बाणसे ताटकावध कर डाला, तब यह जान लिया कि अब निशाचरवध होगा और मैं सनाथ हो जाऊँगा। जबतक निशाचरवध न होगा तबतक मैं तपः सामर्थ्य सम्पन्न होता हुआ भी अनाथ ही हूँ। सनाथ होनेमें अब सन्देह नहीं रह गया। अब प्रभु श्रीरामजीके कारण मैं सनाथ हूँ ऐसा पूर्ण विश्वास और मनमें सेव्य-सेवक-भावसे प्रेम उत्पन्न हुआ।—*'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥'* भगवान् हैं यह पहले जाना, पीछे उनके प्रभावकी प्रतीति ताटकावधसे मिली, तब प्रतीतिने प्रीतिको जन्म दिया।' (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ *'बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही'* इति। जबतक नदी आदिका जल समुद्रसे पृथक् नदीमें ही रहता है तबतक वह छोटा (थोड़ा) रहता है, पर जब वह समुद्रमें जाकर मिल जाता है तब वह बड़ा हो जाता है, वैसे ही यहाँ जानो। जबतक विद्या मुनिके पास रही तबतक उसकी बड़ाई न थी पर जब वही विद्या विद्यानिधिके यहाँ आयी तब उसने बड़ाई पायी। यथा—*'बिद्या दई जानि बिद्यानिधि बिद्यहु लही बड़ाई।'* (गी० ५३) पुनः, विद्यानिधिको विद्या देना ऐसा ही है जैसा कि समुद्रका अञ्जलिभर जल लेकर समुद्रको ही अञ्जलि देना। भाव कि एक अञ्जलि जलसे समुद्र न तो कुछ बढ़ ही गया न घट पर अञ्जलि देनेवालेकी बड़ाई होती है; यथा—*'सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।'* वैसे ही इस समर्पणसे मुनि और उनकी विद्याको बड़ाई मिली। वाल्मीकीयमें मुनिने कहा है कि 'यद्यपि ये सब गुण आपमें विद्यमान हैं तथापि इन्हें ग्रहण करो'। पुनः *'बिद्यानिधि कहुँ'* का भाव कि कुछ अज्ञानी जानकर नहीं पढ़ाया वरंच यह जानकर कि ये विद्यानिधि हैं, इनको पढ़ाया।

नोट—२ *'बिद्या दीन्ही'* इति। बला और अतिबला नामक अस्त्रविद्याके मन्त्र मुनिने दिये। इस विद्याके प्रभावसे न तो शारीरिक परिश्रम कुछ जान पड़ता है, न कोई मानसिक कष्ट ही होता है और न रूपमें किसी प्रकारका परिवर्तन होता है। मुनिने और भी प्रभाव यह बताया है कि 'इससे सोते या असावधान किसी भी अवस्थामें राक्षस तुम्हारा अपकार नहीं कर सकते, तुम्हारे समान बलवान् पृथिवीमें एवं तीनों लोकोंमें कोई न होगा। क्योंकि ये विद्याएँ सब प्रकारके ज्ञानोंकी जननी हैं। ये ब्रह्माकी पुत्री हैं और बड़ी तेजस्विनी हैं। इनसे बड़े-बड़े लाभ होंगे। इत्यादि। यथा='**न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः॥ १३॥ न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः। न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन॥ १४॥ त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत्सदृशस्तव॥ ...... १५॥ ...... बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ ॥ १७॥ ...... पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजः समन्विते॥ १९॥ ......'** (वाल्मी० १। २२)

नोट—३ वाल्मीकीय और अ० रा० के कल्पोंमें बला और अतिबला अस्त्रविद्याएँ ताटकावधके पहले ही दी गयी हैं और मानसके कल्पमें ताटकावधके पश्चात्।

टिप्पणी—२ *'जाते लाग न छुधा पिपासा'* यह कहकर फिर *'अतुलित बल तनु तेज प्रकासा'* कहनेका तात्पर्य यह है कि भूख-प्यास बन्द होनेसे शरीरका बल और तेज-प्रकाश जाता रहता है; पर इस विद्याको पढ़ लेनेसे भूख-प्यास न रहनेपर भी बल, तेज और प्रकाश बढ़ता ही जाता है। इन दोनों विद्याओंका नाम बला और अतिबला है; यथा-अ० रा० में '**ददौ बलां चातिबलां विद्ये द्वे देवनिर्मिते। ययोर्ग्रहणमात्रेण क्षुत्क्षामादि**

न जायते॥'(१। ४। २५) [इस विद्याके देनेका अभिप्राय यह है कि निशिचरसमूहसे युद्ध करना होगा, यज्ञमें कई दिन लगते हैं, न जाने युद्धमें भोजनका अवसर मिले या न मिले; क्योंकि निशिचर बड़े घोर और बलवान् होते हैं, वे कई दिनतक बराबर लड़ सकते हैं। वाल्मी० १। ३०। ५। में कहा है कि दोनों भाइयोंने छः दिन-रात बिना सोये यज्ञकी रक्षा की। इन विद्याओंके सम्बन्धमें वाल्मी० १। २२ में भी कहा है—'**क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम॥ १८॥**' '**क्षुत्पिपासे**' मानसका क्षुधा-पिपासा है और उपर्युक्त नोटमेंके उद्धरणमें जो '**न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यां ''''' त्रिषु लोकेषु**', और '**न रूपस्य विपर्ययः**' कहा है वही क्रमशः मानसके '*अतुलित बल तनु*' और '*तेज प्रकासा*' हैं।] बला और अतिबलाकी प्राप्ति कहकर आगे और भी विद्याओंकी प्राप्ति कहते हैं। आगे दोहेमें भी देखिये।

प० प० प्र०—'*बिद्यानिधि ''''' पिपासा*' इति। इस विद्याका मन्त्र सावित्र्युपनिषद्में दिया है। ऋषि, छन्द, देवता और न्यास आदि सब वहाँ दिये हैं और '**क्षुधादि निरसने विनियोगः।**' इसका मुख्य हेतु क्षुधा-तृषादि षडूर्मियोंको जीतना है। इस विद्याको '**चतुर्विधपुरुषार्थप्रदा**' भी मन्त्रमें ही कहा है। इस मन्त्रका प्रतिदिन १००० जप ४० दिनतक करनेसे एक अनुष्ठान होता है और ऐसे चार अनुष्ठान करनेपर अधिकारीको मन्त्रसिद्धकी अनुभूति होती है, ऐसा श्रीगुरुमहाराजका वचन इस दासने सुना है और अल्प प्रमाणमें इस मन्त्रका अनुभव भी देखा है। इस मन्त्रको अस्त्रविद्याका मन्त्र गुरुमहाराजने नहीं कहा और न उपनिषद्में ही ऐसा उल्लेख है। इस मन्त्रमें मुख्य है गायत्री-मन्त्र।

दो०—आयुध सर्ब समर्पि कै प्रभु निज आश्रम आनि।
कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगति* हित जानि॥ २०९॥

शब्दार्थ—**निज आश्रम**—यह आश्रम सिद्धाश्रम नामसे प्रसिद्ध है। यहीं भगवान्ने वामन अवतार लेकर देवकार्य किया था, यथा—सत्योपाख्याने—'**सिद्धाश्रमं समागत्य सिद्ध्यर्थं कौशिकस्य च। उत्कण्ठितो बभूवात्र वामनोऽह्यभवत्पुरा**' (उ० ४। ५२) पुनश्च '**एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः।**' (वाल्मी० १। २९। ३) '**मयापि भक्त्या तस्यैव वामनस्योपभुज्यते।**' (२२) *हित* =हितैषी, हितू। प्रिय।

अर्थ—समस्त अस्त्र-शस्त्र समर्पण करके प्रभुको अपने आश्रममें लाकर उन्हें परम हितैषी (वा, इनको भक्ति प्रिय है। यह) जानकर भक्तिपूर्वक कन्द-मूल-फल भोजन समर्पण किया। २०९।

पं० रा० च० मिश्रजी—मुनिके हृदयमें जो ब्राह्मणत्वका अहङ्कार था (जैसा '*प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना*' से स्पष्ट है) वह उन्होंने विद्या समर्पण करके दूर किया—यह समझकर कि '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्।**' रहा क्षत्रियत्वका अहङ्कार, उसे आयुध समर्पण करके छुड़ायेंगे। क्योंकि आत्मा जबतक निरहङ्कार नहीं हो जाता तबतक शुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप नहीं हो सकता। पुनः, दूसरा भाव यह है कि यहाँ वात्सल्यरसने फिर ऐश्वर्यको दबा दिया है तभी तो प्रभुको विद्या देने लगे। जब राजासे इनको माँगने गये थे तब इनपर ऐश्वर्य सवार था और राजापर वात्सल्य; और जब राजाने इनको पिता बना दिया तबसे इनमें वात्सल्य प्रधान हो गया। ताड़कावधपर ऐश्वर्यका स्मरण हो आया था, परंतु फिर वात्सल्यने आ घेरा। मुनिने सोचा कि वनमें न जाने भूख-प्याससे दुर्बल हो जायँ तो इनके माता-पिता क्या कहेंगे, अतएव माधुर्यपक्षमें इनको विद्या दी और शस्त्रास्त्र दिये।

नोट—१ इस दोहेसे मिलता हुआ श्लोक यह है—'**सर्वास्त्रजालं सरहस्यमन्त्रं प्रीत्याभिरामाय ददौ मुनीन्द्रः।**' (अ० रा० १। ४। ३३)

नोट—२ 'सर्व आयुध' से वह समस्त दिव्यास्त्र और उनके संहार जना दिये जिनका विस्तृत वर्णन वाल्मी० १। २७। ४-२१, १। २८। ४—१२ में है। वे ये हैं—'दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्रचक्र, वज्रास्त्र, शिवजीका श्रेष्ठ शूल, ब्रह्मशिर, ऐषीक, ब्रह्मास्त्र, मोदकी और शिखरी नामकी गदाएँ, कालपाश, धर्मपाश, वरुणपाश, दो अशनी (एक शुष्क, दूसरी आर्द्र), शिवास्त्र और

* भगति—१६६१, पं०। भगत—रा० प्र०।

नारायणास्त्र, अग्निका प्रिय अस्त्र शिखर, वायव्य, हयशिर, क्रौञ्च, दो शक्तियाँ, कङ्काल, मूशल, कपाल, किंकिणी, नन्दन, गन्धर्वोंका मोहनास्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन, वर्षण, शोषण, सन्तापन और विलापन गुणवाले अस्त्र कामदेवका दुर्धर्ष मादन मानव; मोहन, तामस, सौमन, संवर्त और मौसल, सत्य और मायामय; सूर्यका तेज; प्रभु अस्त्र; चन्द्रका शिशिर, दारुण त्वाष्ट्र और शीतेषु नामक अस्त्र।'—ये सब कामरूपी हैं, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, बड़े बली और मनोरथ सिद्ध करनेवाले हैं। अस्त्रोंके संहारमन्त्रोंके नाम इसी तरह वाल्मी० १। २८। ४—१२ में दिये हैं।

नोट—३ ***'समर्पि कै'*** इति। आयुधोंका समर्पण इस प्रकार किया कि पूर्व ओर मुख करके बैठे और श्रीरामजीको समस्त आयुधोंके सब मन्त्र दिये। मुनिके जप करते ही वे सब आयुध श्रीरामजीके पास आ गये। सब आयुधोंके देवता सामने हाथ जोड़कर बोले कि हम आपके दास हैं, आप जो आज्ञा दें वह हम करें। यथा—'**स्थितस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिर्मुनिवरस्तदा। ददौ रामाय सुप्रीतो मन्त्रग्राममनुत्तमम्॥ २२॥**—' '**जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः। उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम्॥ २४॥ ऊचुश्च मुदिता रामं सर्वे प्राञ्जलयस्तदा। इमे च परमोदारकिंकरास्तव राघव॥ २५॥**' (वाल्मी० १। २७) सब आयुध कामरूप हैं। जब जिसका स्मरण किया जाता है, वह समीप आ जाता है।

नोट—४ ***'आयुध सर्ब समर्पि कै'*** कहकर तब ***'निज आश्रम आनि'*** लिखकर शब्दोंके क्रमसे ही जना दिया कि आयुध समर्पित करनेके पश्चात् आश्रममें ले गये। इससे सूचित हुआ कि ताटकावधसे मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए और आनन्दके मारे उन्होंने ताटकावनमें ही तुरत विद्या और आयुध समर्पण कर दिये। यथा-'**प्रहस्य राघवं वाक्यमुवाच मधुरस्वरम्॥ १॥ परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः। प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः॥ २॥**' (वाल्मी० १। २७) ***'ख्याल दली ताडुका देखि ऋषि देत असीस अघाई॥'*** (गी० १। ५५) '**सुन्दस्त्रीदमनप्रमोदमुदितादास्थाय विद्योदयं**—।' (हनु० १। ७) अर्थात् ताड़कावधके आनन्दसे प्रसन्न हुए मुनिसे विद्याओंको ग्रहण कर।

नोट—५ ये सब अस्त्र मुनिने तपस्याद्वारा महादेवजीकी प्रसन्नतासे प्राप्त किये थे।

नोट—६ ***'कंद मूल फल भोजन'***— 'इति। भक्तोंके यहाँ जो कुछ रहता है वही प्रभु प्रेमपूर्वक अङ्गीकार करते हैं। इसीसे कहते हैं कि कन्दमूल फल जो उनके आश्रममें थे सो ही दिये। राजा समझकर कन्दादि नहीं दिये; क्योंकि राजाओंके योग्य यह भोजन नहीं है। उनके योग्य सामग्री वनमें कहाँ? जो यह कहो कि ये मुनि तो बड़े समर्थ हैं, ऋद्धि-सिद्धि इनके आश्रित हैं, इन्होंने तो स्वर्गकी रचना की थी, फिर इन्होंने राजाओंके योग्य भोजन-पदार्थ क्यों न दिये?' तो इसीके निवारणार्थ कविने यह पद रखा है—***'भगति हित जानि।'*** इनको भक्ति प्रिय है, भक्तिसे जो कुछ भी अर्पण किया जाता है उसे ये अङ्गीकार करते हैं। यथा—'**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥**' (गीता ९। २६) विश्वामित्रने यह विचार किया कि ये भक्तहितकारी हैं, हमारे साथ रहनेसे हमारे-से आचरण ग्रहण किये हुए हैं। अर्थात् जैसे हम नंगे पैर वैसे ये भी हमारे साथ बिना सवारी, सेवकके और हम सब कन्द-मूल भोजन करते हैं तो ये अन्य पदार्थ कैसे अङ्गीकार करेंगे; अतएव कन्द-मूल-फल दिये। पुनः, प्रथम कहा कि वह विद्या दी जिससे भूख-प्यास न लगे तो फिर कन्द-मूल-फल देनेका प्रयोजन ही क्या रह गया? इसलिये सन्देह निवारणार्थ ***'भगति हित जानि'*** कहा, यह हेतुसूचक बात कहना 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' है। आश्विनकी अमावस्याको सिद्धाश्रममें पहुँचे थे।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥ १॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख की रखवारी॥ २॥

शब्दार्थ—**झारी**=झुण्ड-के-झुण्ड; सब। ***रखवारी***=रखवाली, रक्षा।

अर्थ—प्रातःकाल (होते ही) श्रीरघुनाथजीने मुनिसे कहा कि आप जाकर निडर हो यज्ञ करें॥ १॥ सब मुनि (जाकर) होम करने लगे और आप यज्ञकी रखवालीपर रहे॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'प्रात कहा मुनि सन रघुराई'* कहकर जनाया कि श्रीरामजी सब कृत्योंका समय जानते हैं। वह समय मुनियोंके यज्ञ करनेका है यह भी जानते हैं; इसीसे *'प्रात कहा'* लिखा। [श्रीराम-लक्ष्मणजी देशकालके अनुसार उचित कर्त्तव्यके जाननेवाले हैं, शत्रुओंके संहारक और देशकालोचित वचन बोलनेवाले हैं। यथा—'**अथ तौ देशकालज्ञौ राजपुत्रावरिंदमौ। देशे काले च वाक्यज्ञावब्रूतां कौशिकं वचः।**' (वाल्मी० १। ३०। १)] यह भी जनाया कि श्रीरामजी गुरुसेवामें कैसे तत्पर हैं। ये उत्तम सेवक हैं, इसीसे मुनिको कहना न पड़ा कि हम यज्ञ करेंगे तुम रक्षा करना, इन्होंने अपनी ही ओरसे मुनिसे यज्ञ करनेको कहा। आगे भी समय जानकर आपका सेवा करना पाया जाता है; यथा—*'समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥'* (२२७। २) इत्यादि। (ख) *'रघुराई'*का भाव कि रघुवंशी ब्राह्मणोंके अभयदाता होते आये हैं और ये तो रघुवंशके राजा हैं, इसीसे मुनिसे *'निर्भय'* होनेको कहा। (ग) *'निर्भय जज्ञ करहु'* कहा क्योंकि मुनियोंको मारीच और सुबाहु आदि राक्षसोंका भय था, यथा—*'जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥'* (२०६। ३), *'असुर समूह सतावहिं मोहीं।'* (२०७। १) (घ) *'करहु तुम्ह जाई'* से जनाया कि यज्ञशाला आश्रमसे कुछ दूरीपर अलग बनी हुई थी। यह भी जनाया कि जाइये, हम यहाँ रक्षाके लिये खड़े हैं। [पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि 'ताड़कावधसे मुनि ऐश्वर्य जान गये थे, फिर रामजीने इनसे निर्भय होनेको क्यों कहा? तात्पर्य यह है कि मुनिके ऐश्वर्यज्ञानको फिर वात्सल्यने दबा लिया था। इससे फिर प्रभुने अपने ऐश्वर्यका स्मरण कराया। '**जाई**' पदसे भी भय सूचित होता है। मुनि इनका साथ नहीं छोड़ते। इतने भयभीत हैं कि राजकुमारोंका सान्निध्य नहीं छोड़ सकते। अतः *'निर्भय'* से ऐश्वर्य स्मरण कराते हुए फिर *'तुम्ह जाई'* पद दिया।]

टिप्पणी—२ (क) *'होम करन लागे मुनि झारी'* इति। श्रीरघुनाथजीके कहनेपर सब मुनि यज्ञशालामें जाकर होमके पूर्वकी सब विधि करके होम करने लगे अर्थात् यज्ञकुण्डमें आहुति देने लगे। यज्ञमें होम ही मुख्य है, इसीसे होम करना ही लिखा और विधियों-क्रियाओंका उल्लेख नहीं किया। पुनः भाव कि और विधियाँ तो किसी तरह निबह भी जाती थीं पर होम नहीं निबह पाता था, इससे *'होम'* हीको कहा। (ख) *'मुनि झारी'* से जनाया कि इसके पूर्व केवल वही मुनि होम करने बैठते थे कि जो समर्थ थे, असमर्थ मुनि नहीं बैठते थे, परंतु इस समय श्रीरामजीका बलभरोसा पाकर समस्त मुनिगण होम करने लगे। वा सब मुनि इसलिये एकदमसे बैठ गये जिसमें यज्ञ जल्दी पूर्ण हो जाय, मारीच-सुबाहु आदि न आने पावें। (इस भावसे मुनिके हृदयमें अब भी भय भरा हुआ देख पड़ता है।) (ग) *'आपु रहे मखकी रखवारी'* से जनाया कि धनुष-बाण लेकर खड़े हो गये। (*'करहु तुम्ह जाई'* और *'आपु रहे ....'* से जनाया कि मुनि यज्ञशालामें यज्ञ करने गये और आप बाहर खड़े होकर रक्षामें तत्पर हुए। *'रखवारी'* से जनाया कि तरकश पीतपटसे कसे हाथोंमें धनुष बाण लिये, रोदा चढ़ाये रखवाली करने लगे।)

नोट—अ० रा० में ऐसा ही कहा है—'**श्रीरामः कौशिकं प्राह मुने दीक्षां प्रविश्यताम्॥ ३॥ तथेत्युक्त्वा मुनिर्यष्टुमारेभे मुनिभिः सह ॥ ४॥**' (अ० रा० १। ५) यह यज्ञ छः दिन-रातका था। यथा—'**अद्यप्रभृति षड्रात्र रक्षतां राघवौ युवाम्**' (वाल्मी०। १। ३०। ४) अर्थात् आजसे छः रात्रितक आप दोनों राघव यज्ञकी रक्षा करें॥

सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥ ३॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥ ४॥
पावक सर सुबाहु पुनि मारा*। अनुज निसाचर कटकु संघारा॥ ५॥

शब्दार्थ—**सहाय**=सेना, कटक, यथा—*'अनुज निसाचर कटकु संघारा'*। **फर**= फल, अनी, बाणका अग्रभाग जो लोहेका और नोकीला होता है जिससे आघात किया जाता है।

*—जारा १७२१, १७६२, छं० को० रा०। मारा—१६६१, १७०४।

अर्थ—(यज्ञ-समाचार वा स्वाहा शब्द) सुनकर मुनियोंका द्रोही (शत्रु) क्रोधी राक्षस मारीच सेना लेकर दौड़ा॥ ३॥ श्रीरामजीने बिना फलवाला बाण उसपर चलाया, जिससे वह सौ योजन (४०० कोस) वाले समुद्रके पार जा गिरा॥ ४॥ फिर अग्निबाणसे सुबाहुको मारा। (इधर) भाई लक्ष्मणजीने निशाचर-सेनाका नाश किया॥ ५॥

नोट—१ *'सुनि मारीच'* इति। पूर्व २०६ (४) में कहा था कि *'देखत जग्य निसाचर धावहिं'* और यहाँ कहते हैं कि *'सुनि मारीच⋯धावा मुनिद्रोही'।* दो जगह दो बातें लिखनेका भाव यह है कि इसके पूर्व मुनिलोग भयके कारण छिपकर यज्ञ किया करते थे, शब्द नहीं होने देते थे; तब निशाचर धुआँ देखकर धावा करते थे। इसीसे पूर्व *'देखत जज्ञ निसाचर धावहिं'* लिखा था और, इस समय रघुनाथजीके बल-भरोसेपर यज्ञ करने बैठे हैं और मुनि भी बहुत-से हैं, सभी आहुति देते हुए 'स्वाहा' शब्द जोर-जोर उच्चारण कर रहे हैं, जिससे शब्द वनभरमें गूँज उठा है, अतः शब्द सुनकर मारीचने धावा किया। पुनः, दो जगह पृथक्-पृथक् दो शब्द देकर जनाया कि मारीच सुनकर भी यज्ञ नष्ट करता है और देखकर भी। (पं० रामकुमार) किसी-किसी रामायणमें ऐसा लिखा है कि इन्होंने दूतोंसे अपनी माँका वध और बड़े भारी यज्ञकी तैयारीकी खबर पायी थी। वाल्मीकीयमें विश्वामित्रजीका राजासे यह कथन है कि मारीच, सुबाहु यज्ञकी पूर्तिके समय आकर उपद्रव करते हैं; पर मानसका मत यह जान पड़ता है कि होमका प्रारम्भ होते ही कुछ देरमें मारीच आ पहुँचा। यहाँ *'होम करन लागे'* शब्द हैं, यही मत अ० रा० का है, यथा—**'तथेत्युक्त्वा मुनिर्यष्टुमारेभे मुनिभिः सह॥ ४॥ मध्याह्ने ददृशाते तौ राक्षसौ कामरूपिणौ। मारीचश्च सुबाहुश्च⋯'॥ ५॥** (सर्ग ५) अर्थात् विश्वामित्रजीने मुनियोंके साथ यज्ञ करना आरम्भ कर दिया। मध्याह्नसमय मारीच-सुबाहु दोनों राक्षस दिखायी दिये। हनुमन्नाटकमें भी यज्ञ प्रारम्भ होनेपर ही राक्षसोंका आना लिखा है—**'क्लृप्ते कौशिकनन्दनेन च मखे तत्रागतान् राक्षसान्। हत्वा⋯'**। (१। ७) अर्थात् विश्वामित्रके पवित्र यज्ञका आरम्भ करनेपर वहाँ आये हुए राक्षसोंको मारा।

टिप्पणी—१ (क) *'निसाचर क्रोही'* का भाव कि मारीच स्वाभाविक ही क्रोधी है और यहाँ तो क्रोधका हेतु ही उपस्थित है तब क्योंकर न क्रोध करता! तात्पर्य कि क्रोध करके उसने धावा किया। (ख) *'लै सहाय'* । सहायक सेना साथ लेकर धावा करनेका कारण यह है कि श्रीरामजीने ताड़काको एक ही बाणसे मार डाला था। अतएव वे समझते हैं कि राजकुमार भारी बलवान् हैं। पुनः, भाव कि इसके पूर्व केवल सेना और नायबोंसे काम लेता रहा था; यथा—*'असुरसमूह सतावहिं मोहीं'* मारीचको स्वयं यज्ञविध्वंस करने नहीं जाना पड़ता था, पर अबकी शत्रुको परम सबल जानकर वह स्वयं आया और सेना भी साथ लाया। (ग) *'मुनिद्रोही'* कहा, क्योंकि मुनियोंको अपना धर्म-कर्म न करने देते थे। यथा—*'जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहिं डरहीं॥'* (२०६। ३)

नोट—२ *'बिनु फर बान'* इति। तीरके नोकपर लोहा लगा रहता है जिसे अनी भी कहते हैं, यही नोकीला लोहा फर (फल) है। इसे निकाल लेनेसे थोथा तीर रह जाता है। जब प्राण लेना अभिप्रेत नहीं होता तब बिना फलका बाण चलाया जाता है। बिना फलका बाण क्यों चलाया? उसे जीता क्यों छोड़ दिया? क्योंकि इससे आगे काम लेना है। अरण्यकाण्डकी लीलामें इसका काम है, यह बड़ा सुन्दर कपट-मृग बन सकता है, श्रीसीताहरणलीला और रावणवधका यह कारण बनेगा। लीलामें सहायक होगा। इससे श्रीरामजीका त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ और भगवान् होना सिद्ध होता है। यथा—**'हत्वाऽमूमुचदाशु भाविविदसौ मारीचमुग्राकृतिम्॥'** (हनु० १। ७) अर्थात् होनेवाली बातको तत्काल जाननेवाले श्रीरामजीने भयानक आकृतिवाले मारीचको छोड़ दिया अर्थात् मारा नहीं। विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि रामरत्नाकर-रामायणमें लिखा है कि देवगण डर रहे थे कि मारीचवध होनेसे सीताहरण असम्भव हो जायगा—*'बिनु मारीच न सीताहरन। तेहि बिनु कहाँ दशानन मरन॥'* अतएव उनके मनकी गति जानकर उसे न मारा। मुं० जगबहादुरसिंह (बाबा जयरामदास) मानसशङ्कामोचनमें एक भाव यह लिखते हैं कि 'मारीच श्रीराम-

लक्ष्मण-सीता तीनों रूपोंका ध्यान करता था, यथा—*'श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं'*। अतएव जब तीनों इकट्ठा होंगे तब उसे मारेंगे।

'सत जोजन गा सागर पारा' इति।

पं० रामकुमारजी 'पार' का अर्थ 'तट' करते हैं, वे लिखते हैं कि 'सत योजनका जो समुद्र है उसके पार अर्थात् तटपर गिरा। मारीच समुद्रके इसी पार रहा है, यथा—अध्यात्मे (३। ६। २) **'ययौ मारीचसदनं परं पारमुदन्वतः'**। पुनश्च, *'सत जोजन आयउँ छिन माहीं'* बक्सरसे समुद्र सौ योजन है। (पर इसमें संदेह है।)*'सतजोजन सागर'* कहकर यह निश्चित किया कि किस समुद्रके पार मारीच जाकर गिरा, क्योंकि सागर तो बहुत हैं। ये शब्द न होते तो सन्देह बना रहता कि न जाने किस समुद्रके पार गिरा। [भारतवर्ष और लंकाके बीचमें जो समुद्र है वह सौ योजनका है। किष्किन्धाकाण्डमें इसका प्रमाण है; यथा—*'जो नाँघै सतजोजन सागर। करै सो रामकाज मति आगर॥'* (४। २९। १) इसीसे *'सतजोजन'* को सागरका विशेषण मानकर ही अर्थ करना अधिक संगत जान पड़ता है। यदि 'सागरके पार सौ योजनपर गिरा' ऐसा अर्थ करें तो भी उपर्युक्त संदेह बना ही रहता है कि किस समुद्रके पार गिरा। और इस अर्थका प्रमाण भी कहीं नहीं मिलता। अध्यात्मरामायणमें कहा है कि **'तयोरेकस्तु मारीचं भ्रामयञ्छतयोजनम्। पातयामास जलधौ तदद्भुतमिवाभवत्॥'** (१। ५। ७) अर्थात् एक बाणने मारीचको आकाशमें घुमाते हुए सौ योजनकी दूरीपर समुद्रमें गिरा दिया। वाल्मी० रा० में भी यही है—**'सम्पूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागरसम्प्लवे।'** (१। ३०। १८) **'तेनाहं ताडितः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने॥ पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि। प्राप्य संज्ञां चिरात्तात लंकां प्रति गतः पुरीम्।'** (३। ३८। १९,२१)]

रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'समुद्रके इस पारके कोशों (अर्थात् बक्सरसे समुद्रके इस तटतक) का प्रमाण न लिखा। समुद्रके पार जाना लिखनेसे ही इधरका प्रमाण जना दिया। शतयोजनपर समुद्रमें जो लंका है उसमें गिरा।' पं० रामकुमारजी प्रथम ऊपर दिया हुआ अर्थ लिखकर फिर 'अथवा' लिखकर दूसरा अर्थ यह भी लिखते हैं—'सौ योजनका जो समुद्र उसके उस पार गया।' अधिक लोगोंका मत यही है और यही अर्थ संगत है। उस पार समुद्रतटपर गिरा, पीछे इस पार चला आया होगा। वाल्मी० ३। ३८। २१ में उसने स्पष्ट कहा है कि समुद्रमें गिरा था, वहाँसे लंकामें आया। अ० रा० में कहा है कि तबसे इस निर्भय स्थानमें रहता हूँ। यथा—'—**पतितोऽस्मि सागरे। तत्प्रभृत्यहमिदं समाश्रितः स्थानमूर्जितमिदं भयार्दितः।**' (३। ६। २१) 'शतयोजनवाले समुद्र-पार गया' इससे पाया गया कि वायव्यास्त्रका प्रयोग किया गया। यहाँ 'द्वितीय विभावना' अलङ्कार है, क्योंकि बिना फलके बाण अर्थात् अपूर्ण कारणसे पूरा कार्य हुआ। कारण-कार्य एक साथ होनेसे 'अक्रमातिशयोक्ति' भी है।

अब यह प्रश्न होता है कि 'जब वह लंकामें जा गिरा तो उसने रावणसे क्यों न निवेदन किया? इसका उत्तर यह है कि दैवयोगसे तथा उस बाणके प्रभावसे उसके मनमें भय और भ्रान्ति हो गयी, जिससे उसने लज्जित होकर न तो रावणहीसे कुछ कहा और न अपने आश्रमपर ही लौटकर आया, जैसा कि उसके वचनोंसे प्रमाणित होता है—*'मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सतजोजन आएउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किए भल नाहीं॥ भइ मम कीट भृंगकी नाई। जहँ तहँ मैं देखौं दोउ भाई॥'* (३। २५)

टिप्पणी—२ *'पावक सर सुबाहु पुनि मारा।......'* इति। (क) प्रथम मारीचपर बाण चलाया गया फिर सुबाहु मारा गया, तब सेना। ऐसा लिखकर यह भी जना दिया गया कि इसी क्रमसे ये निशाचर आगे-पीछे थे। मारीच ज्येष्ठ भाई आगे था, उसके पीछे सुबाहु रहा और उसके पीछे सेना थी। अतः इसी क्रमसे वध आदि हुआ। मारीच और सुबाहु मुख्य थे, अतः इनको श्रीरामजीने स्वयं मारा और अनुचरोंको लक्ष्मणजीने मारा। (ख) पावकास्त्रसे सुबाहुको मारा, कहकर जनाया कि वायु (वायव्य) अस्त्रसे मारीचको उड़ाया। वायुसे अग्नि है सो अग्निबाणसे सुबाहुको मारा। अग्निसे जल है और जलके स्वामी वरुण हैं। वरुणास्त्रसे कटकका संहार किया।

नोट—३ वाल्मीकीयमें लिखा है कि 'मारीच-सुबाहु आदि राक्षस आकाशमें दिखायी दिये। वे शीघ्रतापूर्वक दौड़े आ रहे हैं, यह देखकर श्रीरामजीने मनु-निर्मित शीतेषु नामक मानवास्त्र मारीचपर चलाया, जिसके लगनेसे वह समुद्रमें सौ योजनपर जा गिरा। वह चक्कर खाने लगा, मूर्छित और भ्रमितबुद्धि हो गया। बाणके वेगने ही उसे अचेतन कर दिया। मानवास्त्रने उसे इस तरह उड़ाया जैसे वायु मेघको।' यथा—'**मानवास्त्रसमाधूताननिलेन यथा घनान्॥ १५॥ विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीडितम्। १९।**' परंतु अ० रा० में इस बाणका नाम नहीं दिया है। वैसे ही मानसमें नाम नहीं दिया है। मानसके राममें विशेषता यह है कि यह बाण बिना फलके चलाया गया।

यह प्रसङ्ग अ० रा० से मिलता है। इसमें निशाचर-सेनाको लक्ष्मणजीने मारा है, यथा—'**अपरे लक्ष्मणेनाशु हतास्तदनुयायिनः।**' (१। ५। ८)—यही मानसका मत है। वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने ही सेनाको भी मारा।

मारि असुर द्विज निर्भयकारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥६॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥७॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥८॥

अर्थ—निशिचरोंको मारकर ब्राह्मणोंको निर्भय करनेवाले श्रीरामजीकी स्तुति सारे देवता और मुनि करने लगे॥ ६॥ श्रीरघुनाथजीने वहाँ कुछ दिन और रहकर ब्राह्मणोंपर दया की॥ ७॥ भक्तिके कारण मुनिने बहुत-सी प्राचीन वा पुराणोंकी कथाएँ कहीं, यद्यपि प्रभु उन्हें जानते थे॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*अस्तुति करहिं देव मुनि झारी।*' इति। मुनि निर्भय हुए, उनके यज्ञकी रक्षा हुई, सदाके लिये कंटक दूर हुआ। अतः उनकी स्तुति करना उचित ही है; पर देवताओंने क्यों स्तुति की? यहाँ स्तुति करनेमें देवको ही प्रधान रखा गया, यह क्यों? क्योंकि देवता सदासे राक्षसोंके वैरी हैं, यथा—'***हमरे बैरी बिबुध बरूथा***' (रावणवाक्य)। दूसरे, यज्ञकी रक्षासे देवगण भी अपने-अपने भागकी रक्षासे निर्भय हुए, उनके भाग उनको मिले। मुनिलोग यज्ञ करके देवताओंको उनका भाग देते हैं, जिसे पाकर वे बलवान् होते हैं, इसीसे राक्षस देवता और मुनि दोनोंको दुःख देते हैं; यथा—'***करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजेहि बस देवा॥***' (१६९। २) अब दोनों निर्भय हुए। देवता अपना वैर स्मरणकर प्रसन्न हुए, अतः उन्होंने आकर स्तुति की। [(ख) देवताओंको प्रथम कहनेका भाव—(१) देवताओंको हजारों वर्षोंपर आज यज्ञभाग मिला। जिसे पाकर आज वे तृप्त हुए। अतएव वे प्रथम ही स्तुति करने आ पहुँचे। (२) यज्ञकी समाप्तिपर ऋषिगण प्रभुकी भुजाओंका पूजन करने लगे, यथा—'***जे पूजी कौसिकमख रिषयन्हि॥***' (गी० ७। १३) पूजनके बाद स्तुति होती है, सो देवताओंने प्रथम ही स्तुति प्रारम्भ कर दी, अतएव मुनियोंको पीछे कहा। अ० रा० में भी देवताओंका स्तुति करना और विश्वामित्रका श्रीरामजीका पूजन करना कहा गया है, वैसे ही यहाँ।] (ग) द्विजोंके लिये राक्षसोंको मारा, इसीसे द्विज-निर्भयकारी कहा।

टिप्पणी—२ '*कछुक दिवस*' इति। (क) अध्यात्ममें तीन दिन ठहरना लिखा है, यथा—'**पुराणवाक्यैर्मधुरैर्निनाय दिवसत्रयम्॥ चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते कौशिको राममब्रवीत्।**'(१। ५ ११-१२) अर्थात् पुराण और इतिहासादिकी मधुर कथाएँ सुनाते हुए तीन दिन बिताये। चौथा दिन आनेपर मुनिने श्रीरामजीसे कहा। वाल्मीकीयमें यज्ञ छः दिन हुआ और दूसरे ही दिन वहाँसे सब जनकपुर गये। कितने दिन और रहे? इसमें मतभेद है। कोई ३, कोई ५, कोई ७ दिन लिखते हैं। अतः गोस्वामीजीने '***कछुक दिवस***' लिखकर सबके मतोंकी रक्षा की है। (ख) '***पुनि***' का भाव कि यज्ञरक्षाके लिये मुनि माँगकर लाये थे, अबतक यज्ञरक्षार्थ रहे और यज्ञरक्षा कर चुकनेपर भी कुछ दिन और रह गये। '***पुनि***' के यहाँ दोनों अर्थ हैं—'फिर' एवं 'और'। (ग) '***कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया***' इति। विप्रोंपर क्या दया की? सुनिये। यज्ञरक्षाके निमित्त मुनि ले आये थे, सो यज्ञरक्षाका कार्य तो हो चुका, यज्ञकी पूर्ति हो गयी और असुरसमूहका नाश भी हो गया, अब

अयोध्यापुरीको लौट जाना चाहिये था, सो न गये। ब्राह्मणोंकी इच्छा देख उनपर कृपा करके रह गये। तात्पर्य कि अनुपम मूर्त्तिका दर्शन पाकर ऋषियोंको यह लालसा हुई कि कुछ काल इसी प्रकार हमको और दर्शनानन्द मिले। उनके हृदयकी जानकर रह गये। [पंजाबीजीका मत है कि कुछ दिन और इससे रह गये कि ऐसा न हो कि मारीचके और कोई साथी-सहायक शेष हों जो मुनियोंको आकर सतावें।] (घ) दया करनेके सम्बन्धसे *'रघुराया'* कहा, क्योंकि रघुवंशी सदा द्विजरक्षक होते आये हैं। रघुरायासे जनाया कि द्विजरक्षा करनेमें ये सबोंसे श्रेष्ठ हैं।

टिप्पणी—३ *'भगति हेतु बहु कथा पुराना'* इति। (क) यथा—*'बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥'* (७। २६) *'भगति हेतु'* का भाव कि यह कथाएँ प्रभुको उपदेश देने या ज्ञान प्राप्त करानेके लिये नहीं कहते, किंतु अपनी भक्ति (जो प्रभुमें है उसके) कारण कथा सुनाते हैं। कथा सुनाना भक्ति है। श्रीरामजी विप्रोंपर दया करके यहाँ ठहर गये, अतएव उनको कथा सुनाते हैं, उनकी भक्ति करते हैं, यथा—*'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥'* (३। ३५। ८) अर्थात् अपनी भक्ति इस प्रकार जना रहे हैं।—दोनोंमें अन्योन्य प्रीति वर्णन की। ☞ यह 'विप्र' शब्द विश्वामित्रजीके लिये प्रयुक्त हुआ। [बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मुनि कथा-पुराण इसलिये कहते हैं कि जैसा बड़े करते हैं वैसा ही फिर और लोग करने लगते हैं। अत: भक्तिके प्रचार-हेतु कहते हैं और प्रभु सुनते हैं।'](ग) *'बहु कथा पुराना'* कहकर जनाया कि कथा सुननेमें श्रीरामजीकी अत्यन्त श्रद्धा है। इसीसे पहुनाई कम की, कंदमूलफल भोजनको दिये। (घ) 'पाँच-सात दिनमें 'बहुत कथा पुरान' कैसे सम्भव है? इसका समाधान यह है कि इससे कवि सूचित कर रहे हैं कि कथा तीनों कालों (प्रात:, मध्याह्न और रात्रि) में होती थी। त्रिकाल-कथाके प्रमाण—प्रात:से मध्याह्नतक, यथा—*'बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥'* पुन:, मध्याह्नसे सायङ्कालतक, यथा—*'करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥'* (२६७। ५) पुन: सायङ्कालसे आधीराततक, यथा—*'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥'* (२२६। २) (ङ) ☞ भगवान् जैसा कथामें प्रसन्न होते हैं वैसा पहुनाईमें नहीं होते। मुनिने भक्तिको प्रधान रखा। *'भगति हित'* जानकर भोजन दिया था, यथा—*'कन्द मूल फल भोजन दीन्ह भगति हित जानि।'*, और भक्तिहीके हेतु कथा कही।

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिअ जाई॥ ९॥
धनुषजज्ञ सुनि* रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा॥ १०॥

अर्थ—तब (अर्थात् कुछ दिनोंके पश्चात्) मुनिने आदरपूर्वक समझाकर कहा—हे प्रभो! चलकर एक चरित देखिये॥ ९॥ रघुकुलके स्वामी श्रीरामजी धनुषयज्ञ सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रके साथ हर्षपूर्वक चले॥ १०॥

नोट—१ *'तब'* इति। (क) ऊपर जो कहा है कि *'तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे'* उन्हीं कुछ दिनोंके पश्चात् कुछ दिनोंके बाद कब कहनेका अवसर आया यह सत्योपाख्यानसे जाना जाता है। अर्थात् श्रीजनक महाराजका निमन्त्रण मुनिको आया, यथा—'**तस्मिन्काले नरेशस्य जनकस्य महात्मनः। प्रतिहारो महाबुद्धिराजगाम महामतिः॥ १॥ प्रणम्य च मुनीन्सर्वान् यज्ञार्थं च विजिज्ञपन्।** दूत उवाच। **जनकस्य गृहे राज्ञो धनुर्यज्ञो हि वर्तते॥ २॥ भवद्भिर्गम्यतां शीघ्रं दयां च यदि क्रीयते। तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे कुमाराभ्यां समन्विताः॥ ३॥ जग्मुश्च मिथिलां तूर्णं विश्वामित्रपुरःसराः। कथाप्रसङ्गं शृण्वन्तौ देशनद्युपवर्णनम्॥ ४॥ आपतुः परमं हर्षं मुनिभ्यो रामलक्ष्मणौ।**' (अध्याय ५) अर्थात् उसी समय महात्मा जनकके महाबुद्धिमान् कर्मचारीने आकर और सब मुनियोंको प्रणाम करके यज्ञमें चलनेकी इस तरह प्रार्थना की कि राजा जनकजीके यहाँ धनुर्यज्ञ हो रहा है, उसमें आप दया करके शीघ्र चलें। यह सुनकर सभी मुनि राजकुमारोंसहित विश्वामित्रजीको आगे करके चले। रास्तेमें देश, उपवन आदिकी सुन्दर कथाएँ सुनकर सब मुनि और राम-लक्ष्मण परम

* करि—१७०४। कह—१७६२, सुनि—१६६१, १७२१, छ०, को० रा०।

हर्षको प्राप्त हुए। (ख) *'तब मुनि सादर'* के *'तब'*—शब्दसे यह सूचित होता है कि कथा-प्रसंगके बीचमें ही श्रीजनकमहाराजका भेजा हुआ निमन्त्रण आया था। इसीसे यह चौपाई *'भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे……'* के बाद ही लिखी गयी है।

टिप्पणी—१ (क) *'सादर'* इति। विश्वामित्रजीकी इच्छा है कि श्रीरामजी जनकपुर चलें, इसीसे उन्होंने आदरपूर्वक समझाकर कहा, जिसमें उनका उत्साह बढ़े और वे स्वयं जनकपुर चलनेको राजी हो जायँ; क्योंकि बिना उनकी इच्छाके उनको दबाकर नहीं कह सकते कि चलो। यह भक्तिके विरुद्ध होगा। (ख) **'सादर'** अर्थात् बड़ी सुन्दर रीतिसे उनके मनको जोहते हुए और धनुर्यज्ञकी कथामें रुचि बढ़ाते हुए।

नोट—२ *'तब कहा बुझाई……'* इति। वाल्मी० १। ३१में कहा है कि प्रात:कालके सब कृत्य समाप्त करके दोनों भाई मुनिके पास आये। श्रीरामजीके कहनेपर कि हमलोग सेवाके लिये उपस्थित हैं, जो आज्ञा हो उसका हम पालन करें, मुनिने कहा कि मिथिलाके राजा जनकका शुद्ध धार्मिक यज्ञ हो रहा है, हम लोग वहाँ जायँगे। तुम भी चलो। वह धनुष बड़ा ही अपूर्व है। देवताओंने जनकके किसी पूर्वजको वह धनुष उनके एक यज्ञकी समाप्तिपर यज्ञके फलमें दिया था। उसमें बड़ा बल है, वह बड़ा ही घोर और चमकीला है। देवता, गंधर्व, असुर, राक्षस आदि कोई भी उसपर प्रत्यंचा नहीं चढ़ा सके। राजा जनक उसकी पूजा करते हैं। वह यज्ञस्थानमें ही रखा हुआ है। वहाँ हम लोगोंके साथ चलकर तुम उस धनुषको और उस विलक्षण यज्ञको देखोगे। (श्लोक ४—१३) अ० रा० में मुनिने कहा है कि राजा जनकके यहाँ महेशजीका धरोहररूपमें रखा हुआ एक बड़ा भारी धनुष है। उस सुदृढ़ धनुषको तुम देखोगे और महाराज तुम्हारा बड़ा ही सत्कार करेंगे।—**'तत्र माहेश्वरं चापमस्ति न्यस्तं पिनाकिना॥ द्रक्ष्यसि त्वं महासत्त्वं पूज्यसे जनकेन च।'** (१। ५। १३,१५) यह भी कहा है कि हम लोग वहाँ जाते हैं। वत्स! तुम भी यज्ञको देखकर फिर अयोध्यापुरीको लौट सकते हो।—**'दृष्ट्वा क्रतुवरं पश्चादयोध्यां गन्तुमर्हसि।'** (अ० रा० १। ६। २) उपर्युक्त सब बातें *'कहा बुझाई'* से जना दीं। और भी जो अन्य रामायणोंमें कहा हो वह भी इसमें आ गया।

नोट—३ *'चरित'* देहलीदीपक है। *'सादर कहा बुझाई एक चरित'* और *'चरित एक देखिअ……'।*

टिप्पणी—२ *'चरित एक प्रभु देखिअ जाई'* इति। (क) कौन चरित है वह यहाँ स्पष्ट नहीं है। आगेकी अर्धालीमें स्पष्ट कर दिया है कि वह चरित 'धनुषयज्ञ' है। समझाकर यह चरित कहा अर्थात् बताया कि किस तरह राजा जनकको धनुष प्राप्त हुआ, क्यों और किस प्रकार उन्होंने धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा की, धनुषयज्ञकी रचना और धनुषयज्ञमें देश-देशके राजाओं, देवों, दैत्यों, राक्षसोंका श्रीसीताजीके लिये आना और धनुष तोड़नेवालेको त्रिभुवन-विजयरूपी यशकी प्राप्ति इत्यादि सब बातें विस्तारसे कहीं। (ख) *'प्रभु'* सम्बोधनका भाव कि आप समर्थ हैं (यह विजय प्राप्त करनेयोग्य है)। (ग) *'देखिअ जाई'* अर्थात् यह चरित आपके देखने योग्य है, इसीसे मैं कहता हूँ कि चलकर देखिये, नहीं तो न कहता। [*'प्रभु'* शब्दमें 'भाविक अलङ्कार' से सूचित करते हैं कि इस अद्भुत चरितके प्रधान पुरुष एक आप ही हैं; अतएव *'चरित एक प्रभु'* कहा। जैसे यह चरित एक ही (अनुपम) है वैसे ही आप ही इसके लिये एक हैं, दूसरा नहीं। (रा० च० मिश्र)]

टिप्पणी—३ *'धनुषयज्ञ सुनि रघुकुलनाथा।……'* इति। (क) *'रघुकुलनाथ'* का भाव कि सभी रघुवंशी वीर होते आये और हैं, यथा—*'रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥'* कि *'अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥'* (२५२। ३) और श्रीरामजी तो रघुकुलके नाथ हैं अर्थात् वीरशिरोमणि हैं, यथा—*'कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥'* (२५३। २) (ख) *'हरषि चले'*। वीरताका काम सुनकर वीरको हर्ष होता ही है। धनुष तोड़नेमें वीरताका काम है। इसीसे धनुषयज्ञ-सम्बन्धी चरित सुनकर उत्साह बढ़ा और हर्षपूर्वक साथ चले। (फिर गुरुकी आज्ञा भी है कि चलो)। यात्रामें हर्ष शकुनका द्योतक भी है। (ग) *'मुनिवरके साथा'* कहकर मुनिको मुख्य रखा। मुनिको निमन्त्रण आया था, इसीसे उनके साथ श्रीरामजीका जाना कहा।

नोट—४ विश्वामित्रजीने राजासे कहा था कि *'धर्म सुजस प्रभु तुम्हकौं इन्ह कहँ अति कल्यान ॥'* (२०७) अब उसी *'अति कल्यान'* के लिये जनकपुर लिये जाते हैं। मा० त० वि० कार लिखते हैं कि 'यज्ञरक्षाका केवल बहाना था। शिवजीकी आज्ञासे मुनि इन्हें माँग लाये थे कि इनकी शक्तिसे इनको मिला दें। प्रमाण—'**गत्वाऽयोध्यां पुरीं दिव्यां रामं नीत्वा ततः पुरः। प्रापय मिथिलां तत्र सीतया सह योजय। मया दत्तास्त्रशस्त्राणि देहि रामाय माचिरम्। रामं पुत्रं ययाचे तं गोपयित्वा स्वयंवरम्।……रक्षाव्याजेन यागस्य रामं तत्र निनीषति।**' रति। (कोशलखण्ड) अर्थात् दिव्य पुरी श्रीअयोध्यामें जाकर वहाँसे श्रीरामजीको मिथिलामें ले जाकर सीताजीके साथ मिला दो। जो अस्त्र-शस्त्र मैंने दिये हैं उन्हें श्रीरामजीको अर्पण कर दो। विश्वामित्रजीने जाकर स्वयंवरकी बात गुप्त रखकर यज्ञरक्षाके बहाने श्रीरामजीकी याचना की और ले जानेकी इच्छा कर रहे हैं। यह भी स्मरण रहे कि राजाने अपना पितृत्व-धर्म मुनिको सौंप दिया था, इसलिये मुनिको दुबारा उनकी आज्ञा लेनेकी कोई आवश्यकता न थी।

आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥ ११॥
पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहा बिसेषी॥ १२॥

अर्थ—मार्गमें एक आश्रम देखा। वहाँ पक्षी, पशु, जीव-जन्तु (कुछ भी) न थे॥ ११॥ पत्थरकी शिला देखकर प्रभुने मुनिसे पूछा तब मुनिने विस्तारपूर्वक अच्छी तरहसे सब कथा कही॥ १२॥

टिप्पणी—१ *'आश्रम एक दीख मग माहीं।……'* इति। (क) मार्गमें एक आश्रम देखा, यह कहकर जनाया कि विश्वामित्रजी अहल्योद्धार करानेके लिये उसी रास्तेसे और जहाँ शिला पड़ी थी वहींसे होकर प्रभुको लिये जा रहे हैं। (ख) *'खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं'* इति। यह आश्रम वनमें है, वनके वृक्ष-समूहोंके आश्रित रहनेवालोंमें खग और मृग प्रधान हैं; इसीसे इनको कहकर तब जीव-जन्तुको कहा। *'जीव'* शब्द बड़ोंके लिये और *'जंतु'* छोटे जीवोंके लिये प्रयुक्त होता है। यथा—*'ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना॥'* (३। १३) *'जीव जंतु'*=बड़े-छोटे सब प्रकारके जीव। (ग) खग-मृग भी तो जीव-जन्तुमें आ गये, तब इनको जीव-जन्तुसे पृथक् क्यों कहा गया? इसका कारण यह है कि फूले-फले वनोंमें खग-मृगका निवास अवश्य रहता है, यथा—*'नाना तरु फल फूल सुहाए। खग मृग बृंद देखि मन भाए', 'फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥ कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥'* (७। २३) (इति अवधवनम्), *'खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं'* (२। १२४) (वाल्मीकि-आश्रमः), तथा—*'खग मृग बृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं॥'* (३। १४) (दण्डकारण्यम्) अतएव प्रथम पशु-पक्षी वनमें अवश्य दिखायी देते, उनके लिये चारों ओर दृष्टि डाली। जब वे न देख पड़े तब अन्य जीव-जन्तुओंको देखने लगे, पर और भी कोई जीव न दिखायी पड़े, तब मुनिसे पूछा, यथा—'**मृगपक्षिगणैर्हीनं नानाजन्तुविवर्जितम्। दृष्ट्वोवाच मुनिं श्रीमान् रामो राजीवलोचनः॥**' (अ० रा० १। ५। १६) अ० रा० में भी खग, मृग और जन्तु शब्द आये हैं। इसीसे प्रथम खगमृग कहा, तब जीव-जन्तु और तत्पश्चात् पूछना कहा। (घ) जीव-जन्तु, पशु-पक्षी-विहीन होनेका कारण गौतम ऋषिका शाप है। यथा—'**नानाजन्तुविहीनोऽयमाश्रमो मे भविष्यति।**' इति (अ० रा० १। ५। २९) (ङ) मानसके मतसे यह आश्रम गङ्गाजीके इसी तरफ था और यही मत अ० रा० का है। यथा—'**इत्युक्त्वा मुनिभिस्ताभ्यां ययौ गङ्गासमीपगम्॥ १४॥ गौतमस्याश्रमं पुण्यं यत्राहल्यास्थिता तपः॥ १५॥**' वहाँ भी अहल्योद्धारके पश्चात् गङ्गापार जानेके लिये तत्पर गये हैं। (अ० रा० १। ६। २)

वाल्मीकीयके मतानुसार यह आश्रम गङ्गाके उस पार मिथिला प्रान्तमें है। यथा—'**मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृश्य राघवः। पुराणं निर्जनं रम्यं पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्॥**' (१। ४८। ११) अर्थात् मिथिलाके उपवनमें

एक पुराना निर्जन पर रमणीय आश्रम देखकर श्रीरामजीने मुनिश्रेष्ठसे पूछा। उनके मतानुसार यह आश्रम तिरहुतमें कमतोल स्टेशनके पास है, जहाँ श्रीरामा पण्डितने अहल्या-आश्रम बनवाया है। परंतु गोस्वामीजीके मतसे यह आश्रम सिद्धाश्रमसे पूर्व अहिरौली ग्राममें या उसके निकट है, जहाँसे गङ्गाघाट उतरकर जनकपुर प्रान्त मिलता है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि भोजपुरमें यह बात प्रसिद्ध भी है कि कल्पभेद इसमें समझना चाहिये। यह प्रसंग अ० रा० से बहुत कुछ मिलता है।

टिप्पणी—२ *'पूछा मुनिहि शिला प्रभु देखी।……'* इति। (क) प्रथम आश्रम देखा फिर शिला देखी। अतः देखना दो बार कहा। *'पूछा मुनिहि'* देहलीदीपक है। सुन्दर आश्रम देखकर पूछा कि ऐसे फूले-फले वनमें जीव-जन्तु न होनेका क्या कारण है? और पत्थरकी स्त्री देखकर उसका हाल पूछा कि यह शिला कैसी पड़ी है? (ख) *'सकल कथा मुनि कही बिसेषी'* इति। वनके निर्जन तथा पशु-पक्षी जीव-जन्तु-विहीन होनेका जिस प्रकार गौतमजीका शाप था वह सब कथा मुनिने कह सुनायी और दूसरे प्रश्नका उत्तर दोहेमें देते हैं कि यह गौतमकी स्त्री अहल्या है। (ग) *'बिसेषी'* कहकर जनाया कि सब कथा तो अध्यात्म आदि अनेक रामायणोंमें भी है, पर विस्तारसे नहीं है। जैसा वाल्मीकीयमें विस्तारसे वर्णन है वैसा कहा, यह बात दिखानेके लिये *'बिसेषी'* कहा। विस्तारसे कहनेमें भाव यह है कि जिसमें सब बात समझकर श्रीरामजी अहल्यापर कृपा करें कि हजारों वर्षोंसे क्लेश सहकर हमारा स्मरण करती रही है। मुनिकी इच्छा है कि प्रभु उसपर कृपा करें जैसा आगेके मुनिके वचनोंसे स्पष्ट है—*'चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर।'* इसीसे विस्तारसे अहल्याकी कथा कही, जैसे भगवान्‌ने गिरिजाकी करनी विस्तारसे शिवजीसे कही थी, जिसमें शिवजी उनपर प्रसन्न होकर उनको ब्याह लावें। यथा—*'अति पुनीत गिरिजा के करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥'*

नोट—*'सकल कथा मुनि कही बिसेषी'* इति। कथा यह कही कि इस आश्रममें जगद्विख्यात मुनिवर गौतमजी तपस्याद्वारा भगवान्‌की उपासना करते थे। यह देवाश्रमके समान दिव्य था। देवता भी इसकी प्रशंसा करते थे। (वाल्मी० १। ४८। १५) ब्रह्माजीने एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न की, जिनका नाम अहल्या रखा। समस्त देवगण उसके रूपपर मोहित थे। यह देख ब्रह्माजीने कहा कि सबसे पहले तीनों लोकोंकी परिक्रमा करके आवेगा उसको यह लोक-सुन्दरी कन्या ब्याही जायगी। इन्द्रादि समस्त देवता अपने-अपने वाहनोंपर चले। गौतमजीकी अपने शालग्राममें अनन्य निष्ठा थी। इन्होंने अपने शालग्रामजीकी परिक्रमा कर ली और ब्रह्माके पास गये। इधर देवगण जहाँ जाते वहाँ आगे महर्षि गौतमको देखते थे। सबने इनका आगे होना स्वीकार किया। अतः वह कन्या गौतमजीको मिली (यह कथा हमने पद्म या किसी पुराणमें पढ़ी है)।

दूसरी कथा इस प्रकार है कि ब्रह्माजीने इस कन्याको महर्षि गौतमके पास थाती (धरोहर) रखी। बहुत काल बीत जानेपर जब ब्रह्माजी पुनः इनके पास आये तो इनका परम वैराग्य देखकर उनके ब्रह्मचर्यसे सन्तुष्ट होकर वह लोकसुन्दरी सेवापरायण कन्या तापसप्रवर गौतमजीको ही दे दी।—**'तस्मै ब्रह्मा ददौ कन्यामहल्यां लोकसुन्दरीम्। ब्रह्मचर्येण सन्तुष्टः शुश्रूषणपरायणाम्।'** (अ० रा० १। ५। २०) इन्द्रको बहुत बुरा लगा, क्योंकि वह तो उसे अपनी ही सोचे बैठा था, समझता था कि हमें छोड़ यह दूसरेको नहीं मिल सकती, हम देवराज हैं। उसके रूप-लावण्यपर मुग्ध होकर वह नित्यप्रति उसके साथ रमण करनेका अवसर ताकता रहा।

एक दिन मुनिवरके बाहर चले जानेपर वह गौतमजीका रूप धारणकर आश्रममें आया। (वाल्मी० रा० में विश्वामित्रजीने यह भी कहा है कि मुनिवेषधारी इन्द्रने अहल्यासे कहा कि प्रार्थी ऋतुकालकी प्रतीक्षा नहीं करता, मैं तुम्हारे साथ संगम चाहता हूँ। अहल्याने समझ लिया कि यह मुनिके वेषमें इन्द्र है, फिर भी उस मूर्खाने देवराजके प्रति कुतूहल होनेके कारण उसने उनकी बात स्वीकार की।—**'मुनिवेषं सहस्राक्षं**

विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलम्॥' (१। ४८। १९) पुनः कृतार्थ मनसे उसने इन्द्रसे कहा—हे देवराज! मैं कृतार्थ हुई। आप शीघ्र यहाँसे जाइये। गौतमसे अपनी और मेरी सब तरहसे रक्षा कीजियेगा।—'**कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो।**' (२०) अहल्याके साथ रमणकर वह शीघ्रतासे वहाँसे चल दिये। आश्रमसे शीघ्र बाहर निकल जानेकी चिन्तामें इन्द्र अपना रूप पुनः धारण करनेको भूल गया। इसी समय मुनि भी वहाँ लौट आये। आश्रमसे अपना रूप धारण किये हुए पुरुषको बाहर निकलते देख मुनिने कुपित होकर पूछा—'रे दुष्टात्मन्! रे अधम! मेरे रूपको धारण करनेवाला तू कौन है? '**पप्रच्छ कस्त्वं दुष्टात्मन्मम रूपधरोऽधम।**' (अ० रा० १। ५। २३) 'सच-सच बता नहीं तो मैं तुझे अभी भस्म कर दूँगा।' तब इन्द्रने कहा—'मैं कामके वशीभूत देवराज इन्द्र हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। मैंने बड़ा घृणित कार्य किया है।' तब महर्षिने क्रोधसे उसको शाप दिया कि 'हे दुष्टात्मन्! तू योनिलम्पट है। इसलिये तेरे शरीरमें सहस्र भग हो जायँ।' '**योनिलंपट दुष्टात्मन् सहस्रभगवान्भव।**'(अ० रा० १। ५। २६)—यही शाप मानसका मत है, जैसा—'*रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना*॥' (३१७। ६) से स्पष्ट है। वाल्मीकीयमें श्राप दूसरे प्रकारका है।

देवराजको शाप देकर मुनि आश्रममें आये। देखा कि अहल्या भयसे काँपती हुई हाथ जोड़े खड़ी है। महर्षिने उसको शाप दिया कि 'दुष्टे! तू मेरे आश्रममें शिलामें निवास कर। यहाँ तू निराहार रहकर आतप, वर्षा और वायुको सहती हुई तपस्या कर और एकाग्रचित्तसे श्रीरामका ध्यान कर। यह आश्रम सब जीव-जन्तुओंसे रहित हो जायगा। हजारों वर्षोंके बाद श्रीराम जब आकर तेरी आश्रयभूत शिलापर अपने चरण रखेंगे तब तू पापमुक्त हो जायगी और उनकी पूजा, स्तुति आदि करनेपर तू शापसे मुक्त होकर फिर मेरी सेवा पायेगी। यथा—'**दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम। २७। ...... यदा त्वदाश्रयशिलां पादाभ्यामाक्रमिष्यति। तदैव धूतपापा त्वं रामं संपूज्य भक्तितः। ३१। परिक्रम्य नमस्कृत्य स्तुत्वा शापाद्विमोक्ष्यसे।** ...... ॥ ३२॥ (अ० रा० १। ५) (वाल्मी० रा० में शिलामें निवास और श्रीरामपदस्पर्शकी चर्चा नहीं है। यह सब प्रसङ्ग अ० रा० के अनुसार है)। शाप देकर मुनि हिमालयके उस शिखरपर चले गये जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं।—'**इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते। हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः।**' (वाल्मी० १। ४८। ३३) अहल्या तबसे शिलामें निवास करती हुई तप कर रही है।

प० प० प्र०—इस दोहेमें १२ चौपाइयाँ देकर जनाया कि आश्विन शुक्ल १२ को सबेरे ही सिद्धाश्रमसे निकले।

दो०—गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥२१०॥

अर्थ—हे रघुवीर धीर! महर्षि गौतमकी स्त्री शापके कारण पत्थरकी देह (तथा धीरज) धरे हुए आपके चरणकमलोंकी रज चाहती है। इसपर कृपा कीजिये॥ २१०॥

टिप्पणी—१ आश्रमका वृत्तान्त पूछा, अतः उसकी कथा विस्तारसे कही। शिलाका हाल पूछा, उसे अब कहते हैं। २ '*श्राप बस*' कहनेका भाव कि कर्मके वश देह धारण करनी पड़ती है, यथा—'*जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं*' '*जेहि जोनि जनमौं कर्मबस* ......।' वैसे ही मुनिपत्नीने शापवश पत्थरकी देह धारण की है। [श्रीबैजनाथजी '*उपल देह धरि धीर*' का अर्थ यह लिखते हैं कि धीरज धरे हुए है। अर्थात् एक दिन आपके दर्शन पाकर कृतार्थ हो जाऊँगी' '*उपल देह धरि*' में अ० रा० तथा वाल्मीकीयका यह भाव आ जाता है कि सब प्राणियोंसे अलक्षिता रहकर कठोर तपस्यामें दिन बिता रही है।] ३ '*चरन कमल रज चाहति*' अर्थात् मुनिका वचन है कि 'श्रीरामजी यहाँ आवेंगे। उनके चरण-स्पर्शसे तुम पवित्र हो जाओगी। यथा—'**यदा त्वदाश्रयशिलां पादाभ्यामाक्रमिष्यति। तदैव धूतपापा त्वं** ......' इति अध्यात्मे। इसीसे चरणकमलरज चाहती है, यथा—'**तव पादरजःस्पर्शं काङ्क्षते पवनाशना।**' (अ० रा० १। ५। ३४) ४—'*कृपा करहु*' अर्थात् अहल्याको

पवित्र कीजिये, यथा—'**आस्तेऽद्यापि रघुश्रेष्ठ तपो दुष्करमास्थिता॥ ३४॥ पावयस्व मुनेर्भार्यामहल्यां ब्रह्मणः सुताम्।**' (अ० रा० १। ५) ५—'***रघुबीर***' का भाव कि आप कृपा करनेमें भी वीर हैं, वीरमें कई भेद हैं—युद्धवीर, दयावीर, दानवीर, विद्यावीर और पराक्रमवीर। यहाँ दयावीरके विचारसे '***रघुबीर धीर***' कहा। 'राम' नाम वसिष्ठजीने दिया और आज 'रघुवीर' नामका नामकरण भी दूसरे गुरु विश्वामित्र मुनिद्वारा हुआ।

प० प० प्र०—मानसमें श्रीरामावतारकालसे अबतक 'रघुबीर' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ था। विश्वामित्रजीने अनेक रघुवंशी वीरोंके चरित देखे थे और उन्होंने स्वयं पुरुषसिंह वीर रघुनाथजीका चरित्र भी इतने दिनोंके साथमें देख लिया। तब उन्होंने मानो यह नयी पदवी उनको दे दी। दूसरी बार भी उन्होंने ही रघुवीर कहा है, यथा—'***इहाँ रहिअ रघुबीर सुजाना।***' जब प्रथम '***रघुबीर***' सम्बोधित किया तब वहाँ केवल उनके अनुयायी मुनिगण ही थे। जन-समाजमें यह नाम प्रसिद्ध करनेकी इच्छासे जनकपुरीके समीप अमराईमें '***रघुबीर***' सम्बोधित किया। तबसे यह नाम प्रसिद्ध हुआ। जनकजीकी पत्रिका जब अवधमें आयी तबसे अवधपुरीमें भी '***रघुबीर***' शब्दका बहुत प्रयोग हुआ है।

विश्वामित्रजीने छः प्रकारकी अलौकिक वीरता इनमें देखी। (दोहा २०८ नोट ४ में पञ्चवीरता दिखा आये हैं, वहाँ भी देखिये।) पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके '***हरषि चले मुनि भय हरन***' इसमें धर्मवीरता, माता-पिता आदिके त्यागमें त्यागवीरता, केवल एक बाणसे ताटकावध करनेमें धनुर्वेद विद्या तथा 'विद्यानिधि' से विद्यावीरता, '*दीन जानि तेहि निजपद दीन्हा*' तथा '*कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया*' में दयावीरता, मारीचको बिना फलके बाणसे शतयोजन दूरीपर फेंकने और सुबाहुको एक ही बाणसे मारने तथा यज्ञशालामें एक बूँद रक्त न आने देने इत्यादिमें पराक्रमवीरता देखी। छठी ऋजुतावीरता है। श्रीअवधसे जबसे चले तबसे सरलता तो बराबर देखते ही रहे, पर '***प्रात कहा मुनिसन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥***' में विशेष देख पड़ी। आगे पुष्पवाटिका-प्रसङ्गमें तो यह ऋजुता पाठकोंको स्पष्ट दीखती है। 'गई बहोरि,२ गरीबनेवाजू, सरल, सबल, साहिब३, रघुराजू१' में गोस्वामीजीने छः प्रकारकी वीरता सूचित की है।

छंद—परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोर रही॥

शब्दार्थ—***सही*** =फारसी शब्द है जिसका अर्थ है 'सचमुच' 'ठीक-ठीक' 'निश्चय।'

अर्थ—पवित्र और शोकके नाश करनेवाले (श्रीरामजीके) चरणोंका स्पर्श करते वा होते ही सचमुच (निश्चय ही) तपकी पुञ्ज तपस्विनी (तपोमूर्तिसम प्रकाशमय) अहल्या प्रकट हो गयी। जनोंको सुख देनेवाले, रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीको देखते ही सम्मुख होकर हाथ जोड़े रह गयी। अर्थात् उसको देहकी सुध न रह गयी वा एकटक टकटकी लगाये देखती ही रह गयी।

नोट—१ '***परसत पद पावन***'—ऐसा ही अ० रा० में है, यथा—'**रामः शिलां पदा स्पृष्ट्वा तां चापश्यत्तपोधनाम्।**'(१। ५। ३६) अर्थात् अपने चरणसे उस शिलाको स्पर्शकर तपस्विनी अहल्याको देखा।

टिप्पणी—१ (क) चरणोंमें तो अनेक गुण हैं, परंतु यहाँ '***पावन***' और '***सोक नसावन***' दो ही गुण लिखे, क्योंकि यहाँ इन्हीं दोका प्रयोजन था। अहल्या परपुरुष गमनरूपी पापसे अपावन हो गयी थी, उसको पावन किया और पतिके त्यागसे, शापजनित पतिवियोगसे शोकयुक्त थी, उसे शोकरहित किया, इसीसे '***पावन सोक नसावन***' दो विशेषण दिये। यथा—'***प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी। कृपा सुधा सिंचि बिबुध बेलि ज्यों फिरि सुख फरनि फरी॥***' (गी० १। ५७) पुनः (ख) '***पावन सोक नसावन***' का भाव कि पद पावन हैं, पापके नाशक हैं। पापका फल शोक है, यथा—'***करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग***' सो आपके चरण उस शोकके भी नाशक हैं। तात्पर्य कि कार्य और कारण दोनोंका नाश करते हैं। पावनगुणसे पापका और शोकनशावनगुणसे शोकका नाश हुआ। (ग) '***प्रगट भई***' अर्थात् पाषाणशरीर त्यागकर अपने पूर्व सुन्दर रूपको प्राप्त हुई। यथा—'***रिषितिय तुरत त्यागि पाहनतनु छबि***

मय देह धरी।' (गी० १। ५५) (घ) '*तपपुंज।*' भाव कि अहल्याने हजारों वर्ष तप किया। श्रीरामपदस्पर्शसे तपका फल उदय हुआ। पुनः भाव कि मलिन थी सो तेजसे युक्त होकर प्रकट हुई। तपसे तेज होता है, यथा—'*बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।*'

नोट—२ '*तपपुंज सही*' इति। वाल्मी० रा० में विश्वामित्रजीने कहा है कि अहल्याके साथ महर्षि गौतमने अनेक वर्षोंतक इस आश्रममें तपस्या की थी—'**स चात्र तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा। वर्षपूगान्यनेकानि——**' (१। ४८। १६) अहल्याको शाप देकर फिर शापसे मुक्तिका समय और उपाय बताते हुए गौतमजीने कहा कि जब तू श्रीरामजीका आतिथ्य-सत्कार करेगी तब तुझे अपना पहला सौन्दर्य पुनः प्राप्त हो जायगा। —'**तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता। मत्सकाशं मुदा युक्ता स्ववपुर्धारयिष्यसि॥ ३२॥**' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब इन लोगोंने आश्रममें प्रवेश किया तो देखा कि महाभागा अहल्याकी तपस्याकी ज्योति चारों ओर फैली थी। देवता, असुर आदि मिलकर भी उस तेजस्विनीको नहीं देख सकते थे। ऐसा जान पड़ता था कि ब्रह्माजीने बड़े प्रयत्नसे उस दिव्य स्त्रीको मायामयीके समान बनाया था। वह इस समय धूमसे घिरी हुई अग्निशिखाके अथवा कोहरेसे छिपी हुई पूर्णमासीके चन्द्रमाकी स्वच्छ प्रभाके, वा जलमें पड़े हुए सूर्यके प्रतिबिम्बके समान देख पड़ती थी।—ऐसी दिव्य अहल्या गौतमके शापवश तीनों लोकोंके जीवोंके न देखनेयोग्य हो गयी थी। यथा—'**ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्।—प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव। धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव॥ सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव। मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव॥ सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह।**' (वाल्मी० १। ४९। १३—१६) श्रीरामजीके चरणस्पर्शसे वही तेजोमय पूर्वरूप प्रकट हो गया। अतः '*तप पुंज सही*' विशेषण दिया।

पंजाबीजी '*तपपुंज*' से गौतमऋषिका अर्थ करते हैं और '*सही*' का अर्थ 'सखी' करते हैं। वे कहते हैं कि व्यभिचारिणीको तपस्विनी कैसे कह सकते हैं? परंतु गीतावलीसे यह विशेषण अहल्याहीके लिये सिद्ध होता है। बैजनाथजीके मतानुसार '*तपपुंज*=तपोधनसे भरी जैसे पूर्व थी वैसी ही।' मिलान कीजिये गीतावली पद ५६ और ६५ से। यथा—'***परसत पदपंकज रिषिरवनी। भई है प्रगट अति दिव्य देह धरि मानो त्रिभुवन छबि-छवनी॥ देखि बड़ो आचरज पुलकितनु कहत मुदित मुनि-भवनी। जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि सिला न रहिहि अवनी॥ परसि जो पाय पुनीत सुरसरी सोहै तीनि पथ गवनी। तुलसिदास तेहि चरनरेनु की महिमा कहै मति कवनी॥***' '***सिलाछोर छुअत अहल्या भई दिव्यदेह गुन पेखे पारस के पंकरुह पाँय के।***'— यह चरणरजका प्रताप है। पुनः सत्योपाख्याने यथा—'**सुन्दरी साभवत् क्षिप्रं रामचन्द्रप्रसादतः।**' (उ० ५। ९) इस तरह '*तपपुंज*' का अर्थ 'प्रकाशमय, तेजोमय, अति दिव्य' है। पं० रा० च० मिश्र '*सही*' का अर्थ सहगामिनी अर्थात् 'स्त्री' करते हैं और लिखते हैं कि '*सही*' शब्द देकर गौतमजीके तपके आधिक्यकी साक्षी दे रहे हैं, जिसके प्रभावसे अचेतन पत्थरमें भी चेतनत्वका आवेश बना रहा। [यह मात्रिक त्रिभङ्गी छन्द है। इसके चारों चरणोंमें ३२-३२ मात्राएँ होती हैं। प्रथम १० मात्राओंपर फिर ८-८ पर और अन्तमें ६ पर विश्राम होता है। चरणान्तका अक्षर गुरु होता है]

टिप्पणी—२ (क) '*जनसुखदायक*' का भाव कि इस रूपका सुख निज जन ही पाते हैं, प्रभु अपने जनको दर्शन देते हैं। '*सनमुख होइ*' क्योंकि सामनेसे दर्शन अच्छी तरह होता है। दर्शनसे अहल्याको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ, अतः '*जनसुखदायक*' कहा। (ख) '*सनमुख होइ कर जोरि रही*' इति। यथा—'***निगम-अगम-मूरति महेस-मति-जुवति बराय बरी। सोइ मूरति भइ जानि नयनपथ एकटक तें न टरी।***' (गी० १। ५५) अर्थात् वेदोंको भी अगम जिस मूर्तिको शिवजीकी बुद्धिरूपिणी स्त्रीने अन्य सब रूपोंको बराकर बरबस वरण किया वही मूर्ति हमारे दृष्टिगोचर हुई, यह जानकर एकटक देखती रह गयी। पुनः भाव कि स्तुति करनी चाहिये थी सो करते नहीं बनती, क्योंकि मारे प्रेमके अधीर हो गयी है, जैसा आगे कहते हैं। पुनः भाव कि हाथ जोड़े रह गयी, जिसमें रघुनाथजी प्रसन्न होवें। यथा—'**अञ्जली परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी॥**'

अति प्रेमु अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल* नयन जलधार बही॥ १॥

अर्थ—अत्यन्त (निर्भर) प्रेमके कारण धैर्य जाता रहा, शरीर पुलकायमान हो गया, मुखसे वचन नहीं निकलते अर्थात् कण्ठ गद्गद हो गया। वह अतिशय बड़भागिनी अहल्या प्रभुके चरणोंमें लगी (अर्थात् प्रणाम कर रही है) और उसके दोनों नेत्रोंसे प्रेमाश्रुकी धारा बह रही है॥ १॥

टिप्पणी—१ '*अति प्रेम अधीरा*....' इति। (क) अर्थात् उसके तन, मन और वचन तीनों प्रेमसे शिथिल हो गये। यथा—'**पुलकाङ्कितसर्वाङ्गा गिरा गद्गदयैलत।**'(अ० रा० १। ५। ४२) '*अति प्रेम*' से मन, '*पुलक सरीरा*' से तन और '*मुख नहिं आवै बचन कही*' से वचनकी अधीरता कही। प्रेम कहकर ये सब प्रेमकी दशाएँ कहीं कि तन पुलकित है, प्रेमाश्रु बह रहे हैं, स्तुतिके लिये मुखमेंसे वचन नहीं निकलते। (ख) '*अति प्रेम*' का भाव कि मस्तकपर चरण धरनेका प्रेम है; यथा—'***सोई पदपंकज जेहि पूजित अज मम सिर धरेउ कृपालु हरी।***' फिर दर्शनकी प्राप्तिका प्रेम है, यथा—'***देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना।***' (दोनों बातोंको विचार-विचारकर कृतकृत्य हो रही है।)

टिप्पणी—२ (क) '*अतिसय बड़भागी*' का भाव कि ज्ञान, वैराग्य, जप, तप आदि धर्म करनेवाले 'भागी' (भाग्यवान्) हैं और चरणसेवक बड़भागी हैं, पर अहल्या '*अतिसय बड़भागिनी*' है; क्योंकि इसके शीशपर भगवान्‌ने अपना चरण रखा और इसने भगवान्‌के चरणोंपर अपना सिर रखा। यथा—'***जे गुरुपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़भागी॥ राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकै भरत कर भागू॥***' (२। २५९) तात्पर्य कि भरतजी अति बड़भागी हैं। '*अति*' के लिये वही जगह (अर्थात् चरण) खाली है[☞यों भी कह सकते हैं कि श्रीरामचरणानुरागी '*बड़भागी*' हैं और जिनपर प्रभु स्वयं कृपा करें वे '*अतिसय बड़भागी*' हैं]। (ख) '*परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई*....' इसीसे चरणोंमें लगी, और '*देखत रघुनायक जन सुखदायक*' के सम्बन्धसे '*जुगल नयन जलधार बही*' और '*अति प्रेम अधीरा*....' है अतएव '*धीरज मन कीन्हा।*' प्रेम होनेपर नेत्रोंसे अश्रुपात और शरीरमें पुलक होता है, इसीसे प्रथम '*अति प्रेम*' कहा तब उसका उमगना कहा; यथा—'*उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू*' तब '*जुगल नयन जलधार बही।*' (ग) अ० रा० १। ५। ४१ में भी ऐसा ही है—'**हर्षाश्रुजलनेत्रान्ता दण्डवत्प्रणिपत्य सा॥**'

नोट—प्रभुके चरणोंमें अनुराग करनेवालोंको ग्रन्थकारने सातों काण्डोंमें बड़भागी कहा है; यथा—'***ते पद पखारत भाग्यभाजन जनकु जय जय सब कहैं॥***' (१। ३२४) '***नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भाग भाजन जन लेखें॥***' (२। ८८। ५) '***भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ॥***' (२। ७४)'***परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिबर बड़भागी॥***' (३। १०। २१) '***सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥***' (४। २३। ७) '***हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥***' (४। २६। १३) '***अहो भाग्य मम अमित अति रामकृपा सुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पदकंज॥***' (५। ४७) '***बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चाँपत बिधि नाना॥***' (६। ११। ७) '***अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंद अनुरागी॥***'—

धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहुँ चीन्हा रघुपति कृपा भगति पाई।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ग्यानगम्य जय रघुराई॥

अर्थ—मनमें धीरज (धारण) किया, प्रभुको पहिचाना और रघुनाथजीकी कृपासे भक्ति पायी। अत्यन्त निर्मल वाणीसे स्तुति करने लगी—'ज्ञानसे जाने जानेयोग्य श्रीरघुनाथजी! आपकी जय!'

नोट—जब रघुनाथजीने कृपा की और भक्ति दी तब मनको धीरज हुआ, जिससे उसने प्रभुको पहचाना और

* पहले 'जुग नयनन्हि' पाठ था। 'न्हि' पर हरताल देकर हाशिये पर 'ल' बनाया गया है।

चरणोंको पकड़ लिया, उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह निकली। इस दशाके प्राप्त होनेपर वक्तालोग उसके भाग्यकी प्रशंसा करते हैं कि अतिशय बड़भागिनी है। अर्थात् इसके भाग्यकी प्रशंसा किससे की जा सकती है? (प्र० सं०)

टिप्पणी—१ (क) *'धीरजु मन कीन्हा ।'* पूर्व *'अति प्रेम'* से अधीर होना कहा था, अब धैर्य धारण करना कहा। श्रीरामरूप ऐसा ही है, उसे देखते ही धैर्य जाता रहता है, मन-तन कुछ वशमें नहीं रह जाते। श्रीजनकमहाराज, रानियों और हनुमान्‌जी इत्यादिकी यही दशा हुई थी। ☞उन्होंने भी पीछे धैर्य धारण किया तब कुछ कह सके; यथा—*'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ प्रेममगन मन जानि नृप करि बिबेकु धरि धीर। बोलेउ मुनिपद नाइ सिरु गदगद गिरा गँभीर॥'* (२१५) *'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी॥ पुनि धीरजु धरि कुँअरि हँकारी॥'* (३३७। ५-६) *'पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही॥'* (४। २) इत्यादि। (ख) *'प्रभु कहुँ चीन्हा।'* गौतमजीके वचनोंको स्मरणकर प्रभुको पहचाना। यथा—**'गौतमस्य वचः स्मृत्वा ज्ञात्वा नारायणं वरम्॥'** (अ० रा० १। ५। ४०) **'स्मरन्ती गौतमवचः॥'** (वाल्मी० १। ४९। १७) गौतमजीका वचन है कि श्रीरामजी यहाँ आवेंगे, चरणसे स्पर्श करेंगे, तब तुम पवित्र हो जाओगी। अतएव जब चरणके स्पर्शसे दिव्य देह प्राप्त हुई तब उसने जान लिया कि ये ही प्रभु श्रीरामजी हैं। (ग) *'रघुपति कृपा भगति पाई'* इति। विश्वामित्रजीका वचन है कि इसपर कृपा कीजिये, यह चरणकमलरज चाहती है। अतएव गुरुकी आज्ञासे श्रीरामजीने अहल्यापर कृपा की, उसको चरणसे स्पर्श किया, जिससे उसको अपना दिव्य रूप मिल गया। कृपाका फल भक्ति है, यह श्रीरामजीने उसको अपनी ओरसे दी; यथा—*'अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥'* (२। १०७) (भरद्वाज), *'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥'* (४। ७) (सुग्रीव), *'नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥'* (५। ३४) (हनुमान्), *'नाथ एक बर माँगउँ राम कृपा करि देहु। जनम जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥'* (७। ४९) (वसिष्ठ) इत्यादि। तात्पर्य कि बिना कृपा भक्तिकी प्राप्ति नहीं है, प्रभुकी कृपाहीसे वह मिलती है। जिसपर कृपा होती है उसे भक्ति भी मिल जाती है। (घ) पुनः भाव कि प्रभुको पहचानना ज्ञान है। प्रभुको पहचाना अर्थात् उसे ज्ञानकी प्राप्ति हुई; इसीसे उसने प्रथम ज्ञानकी बात कही कि *'ग्यानगम्य जय रघुराई।'* पहचाननेके बाद भक्तिकी प्राप्ति कही—*'रघुपति कृपा भगति पाई।'* इसीसे ज्ञानके बाद भक्तिकी बात कहती है कि *'मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन'''''।'* [(ङ)*'रघुपति कृपा'* दीपदेहली है। भगवान्‌को पहिचानना भी उन्हींकी कृपासे होता है, यथा—*'सोइ जानै जेहि देहु जनाई।''''''तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानत भगत''''॥'*(२। १२७)]

टिप्पणी—२ (क) *'अति निर्मल बानी'''''* प्रेम-भक्तिकी प्राप्तिसे वाणी निर्मल हो गयी, यथा—*'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥'* (७। ४९। ६) अति प्रेमसे अधीर थी। उस प्रेमधारासे वाणी निर्मल हो गयी। वाणीके अठारह दोष हैं वे ही मल हैं, यथा—*'बोलै बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन॥'* उन सब दोषोंसे रहित होनेसे *'अति निर्मल'* कहा। [पुनः *'अति निर्मल'* का भाव कि श्रीरामपदके स्पर्शसे निर्मल हुई और भक्तिकी प्राप्तिसे *'अति निर्मल'* हो गयी। इससे जनाया कि इसकी सब वाणी प्रेमभक्तिमय है। (प्र० सं०)] (ख) *'अस्तुति ठानी'* *'ठानी'* शब्दसे सूचित किया कि बहुत देरतक बहुत भारी विस्तारकी स्तुति की। अध्यात्मादिमें बड़ी भारी स्तुति है। (अ० रा० में अठारह श्लोकोंमें स्तुति है।) (ग) *'ग्यानगम्य'* अर्थात् जो ज्ञानी हैं वही आपको जानते हैं और ज्ञानविहीन लोग तो आपके आचरण देखकर मोहित हो जाते हैं, यथा—**'अहो विचित्रं तव राम चेष्टितं मनुष्यभावेन विमोहितं जगत्।'** (अ० रा० १। ५। ४४) इससे पाया गया कि अहल्याको ज्ञान और भक्ति दोनों ही प्राप्त हुए। अध्यात्ममें भी ज्ञानभक्तिमिश्रित स्तुति है। गोस्वामीजीने भी वही बात यहाँ जनायी है। [पुनः भाव कि आप ज्ञानसे जाने जाते हैं और मैं अपावन और अज्ञानी स्त्री हूँ, आपको क्योंकर जान सकती हूँ, यथा—*'सती हृदय अनुमान किय सब जानेउ सर्बग्य। कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अग्य॥'* जब आपकी कृपा हुई तब

मैं आपको पहचान सकी। यथा—*'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानत भगत भगत उर चंदन॥'* (२। १२७) (घ)*'रघुराई'* कहकर रघुवंशकी और रघुवंशियोंमें भी आपकी उत्कृष्टता जनायी]।

☞ पहले अहल्याजीके मन, तन और वचनकी शिथिलता लिखी, यथा—*'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा……'* अब तीनोंका व्यापार कहते हैं। जो मन प्रेमसे अधीर था वह अब धीर हुआ—*'धीरज मन कीन्हा……'* इत्यादि। धीरज धरना, पहचानना और भक्तिका पाना ये सब मनके धर्म हैं। शरीर पुलकित था सो अब चरणोंमें लगा है—*'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही'* चरणोंमें लगना, आँसूका गिराना, यह शरीरका व्यापार है। मुखसे वाणी नहीं निकलती थी सो अब स्तुति करने लगी। स्तुति करना वाणीका धर्म है। इस तरह दिखाया कि अब मन, तन और वचन तीनोंकी अधीरता निवृत्त हो गयी है।

मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन रावनरिपु जन सुखदाई।
राजीव बिलोचन भव-भय मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई॥ २॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं अपवित्र स्त्री हूँ और आप जगत्‌को पावन करनेवाले हैं, रावणके शत्रु और जनोंके सुखदाता हैं। हे कमलनयन! हे संसारके भयके छुड़ानेवाले! मैं शरणमें आयी हूँ, मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'मैं नारि अपावन……'* अर्थात् एक तो मैं स्त्री हूँ जो सहज ही जड़, अज्ञ और अपावनी होती है, यथा—*'सहज अपावनि नारि……॥'* (३। ५) उसपर भी मैं धर्महीना हूँ। तात्पर्य कि अपनेको पवित्र नहीं कर सकती और आप जगत्-मात्रको पवित्र करनेमें समर्थ हैं, तब मुझ एक अपवित्र स्त्रीको पवित्र कर देना आपके लिये कौन बड़ी बात है? आपने मुझको पवित्र करके सुख दिया। (ख) *'रावनरिपु जन सुखदाई'* इति। अर्थात् रावणको मारकर अपने भक्तोंको सुख दीजियेगा और यश विस्तारकर जगत्‌को पवित्र कीजियेगा। ☞*'रावनरिपु'* से सूचित होता है कि श्रीरामजीके दर्शनसे अहल्याको भविष्यका ज्ञान हो गया। अथवा, भविष्य रामायण सुने रही हो, (चाहे गौतमजीने ही शापानुग्रह करते समय कहा हो) यथा—*'रामु जाइ बन करि सुर काजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥ अमर नाग नर राम बाहु बल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल॥ यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाषा॥'* (२। २८५) (जैसे याज्ञवल्क्यजीने सुनयनाजी आदिसे कहा ऐसे ही गौतमजीने इनसे कहा) इत्यादि। पुनः रावणरिपुसे लंकाकाण्ड और जनसुखदाईसे उत्तरकाण्डका चरित कहा, क्योंकि रावणका वध करके अवधमें आकर राज्यपर बैठ अवधपुरवासियों एवं जगत्-मात्रको सुख दिया है। [रावणरिपुमें भविष्य बात पहले ही कही जानेसे 'भाविक अलङ्कार' है। 'अपावन' और 'जगपावन'का यथायोग्य सङ्ग *'प्रथम सम'* अलङ्कार है।]

टिप्पणी—२ (क) *'राजीव बिलोचन'* इति। कृपादृष्टिसे देखनेमें नेत्रोंको कमलका विशेषण देते हैं, यथा—*'देखी राम सकल कपि सेना। चितइ कृपा करि राजिवनयना॥'* (५। ३५) *'राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥'* (१८। १०) *'तब निज भुजबल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सैना॥'* (४। ३०) *'मैं देखौं खल-बल-दलहिं बोले राजिवनयन॥'* (६। ६६) राक्षसोंके वधमें कृपादृष्टि है, यथा—*'उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर-भाव सुमिरत मोहि निसिचर। देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥'* (६। ४४) 'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा।' अतएव *'राजीव बिलोचन भवभय-मोचन……'* का भाव यह हुआ कि कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखकर मेरी रक्षा कीजिये। (दोहा १८। १०) भी देखिये। (ख) *'पाहि……'* अर्थात् कृपादृष्टि करके भवभय छुड़ाइये। *'पाहि पाहि'* यह रक्षामें विश्वास करना तृतीय शरणागति है। यही शरणमें आना है। *'सरनहि आई'* का भाव कि भगवान्‌को शरणार्थी प्रिय है, यथा—*'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥'* (५। ४४) (ग) ☞ [अहल्या तो जहाँ-की-तहाँ खड़ी हैं, एक पग भी उसे चलना नहीं पड़ा; तब *'आई'* कैसे और कहाँसे? उत्तर यह है कि षट्शरणागतिमेंसे **'रक्षिष्यतीति विश्वासः'** 'रक्षामें प्रतीति आना वा होना' है। यहाँ 'शरण आई' उस प्रतीतिके आनेके लिये प्रयुक्त हुआ है। (प्र० सं०) 'शरण आना' मुहावरा है, 'शरणागत होना, शरण हूँ।' इसके पर्याय हैं। शरण होनेके लिये कहीं आने-जानेकी जरूरत नहीं। भगवान् सर्वत्र हैं। जो जहाँ

है वही कह सकता है कि शरणमें आया हूँ, जिसका अभिप्राय यह है कि अबतक आपसे विमुख रहा, संसारमें भटकता रहा,अब आपको ही एकमात्र रक्षक और स्वामी जानकर आपके आश्रित हूँ।]

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना॥

अर्थ—मुनिने जो शाप दिया बहुत ही अच्छा (एवं यह मेरा अत्यन्त भला) किया, मैं उसे परम अनुग्रह मानती हूँ (उसीका फलस्वरूप आज) मैंनें भवके छुड़ानेवाले, क्लेशोंके हरनेवाले आपको नेत्रोंभर (अघाकर) देखा। इसीको (तो) शंकरजी परम लाभ समझते हैं।

टिप्पणी—१ (क) शापसे भगवान् मिले इसीसे *'अति भल'* और *'परम अनुग्रह'* माना, यथा—*'बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।'* (४। ७। १९) *'रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परमहित माना।* (३१७। ६) क्या *'अति भल'* किया सो आगे कहती हैं कि *'देखेउँ भरि लोचन''''''*। *'अति'* के योगसे (अनुग्रहके साथ भी) *'परम'* पदका प्रयोग किया। *'अति भल'* किया इसीसे *'परम अनुग्रह'* माना। अर्थात् शापको आशीर्वाद माना। (ख) *'परम अनुग्रह'* इति। भाव कि पतिप्रतिकूला स्त्री भगवान्‌को प्रिय नहीं है, इसीसे पतिका उपकार, पतिका अनुग्रह अपने ऊपर कहती हैं। [(ग) *'अति भल'* और *'परम अनुग्रह'* का और भाव कि शाप दे भला किया और दर्शनका आशीर्वाद (शापानुग्रहमें) दिया यह *'अति'* भल किया। शापसे छुड़ाया यह अनुग्रह है और *'देखेउँ भरि'* यह परम अनुग्रह है, जो उस शापके ही बदौलत (कारण) हुआ।] (घ) *'मैं माना'* का भाव कि जो उपकार नहीं मानता वह कृतघ्न होता है। उपकार न मानना सम्भव है, उसके न माननेका कारण है, क्योंकि मुनिने तो क्रोध करके शाप ही दिया (भगवान्‌की कृपासे) शापसे उपकार हो गया। प्रत्यक्ष उपकार तो मुनिने किया नहीं। अतएव उपकार *'मान'* लेना कहा। यदि अहल्या ऐसा न कहती तो पाया जाता कि मुनिने शाप दिया, इसीसे अहल्याका मन उन (गौतममुनि) की ओरसे मलिन है; पर *'परम अनुग्रह मैं माना'* कथनसे उसकी सफाई हो गयी। [शापको अनुग्रह मानना अर्थात् दोषका गुण हो जाना 'अनुज्ञा' अलङ्कार है। पं० रा० कु० जी इसे 'लेशालङ्कार' कहते हैं।]

टिप्पणी—२ (क) *'देखेउँ भरि लोचन'* अर्थात् जो मूर्ति अनुभवमें नहीं आती वह मैं नेत्र भरकर देख रही हूँ। (ख) पहले कहा कि *'राजीव बिलोचन भव भय मोचन पाहि पाहि सरनहि आई'* और अब कहती हैं कि *'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन'* इसका तात्पर्य यह है कि जिसको भगवान् कृपा करके देखें अथवा जो भगवान्‌को देखे दोनोंहीका एवं दोनों ही प्रकारसे भवमोचन होता है। यथा—*'जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परम पद जोगू।'*

[पुनः भाव कि पूर्व *'राजीव बिलोचन''''''''* कहकर जो भवभयसे रक्षाकी प्रार्थना की थी उसीको यहाँ *'देखेउँ हरि भवमोचन''''''*' में चरितार्थ कर दिखाया है। अर्थात् आपके दर्शनसे मेरा भवसे छुटकारा हो गया, दर्शनसे मुझे अपना सहज स्वरूप प्राप्त हो गया।] (ग) *'इहै लाभ संकर जाना'* भाव कि जब शंकरजी इसीको लाभ मानते हैं और किसी चीजको नहीं तब तो इस लाभसे अधिक कोई लाभ नहीं है। दर्शन-लाभ ही परम लाभ एवं लाभकी अवधि है। यथा—*'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी।'* (२। १०७) (घ) *'संकर जाना'* यथा—*'संकर हृदि पुंडरीक निबसत हरि चंचरीक निर्ब्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई।'* (गी० ७। ३) *'संकर मानस राजमराला'*, *'ये दोउ बंधु संभु उर बासी।'* (२४६। ४) इत्यादि। [इस लाभको शंकरजी जानते हैं, इसीसे वे कर्म और ज्ञानको छोड़ आपके ध्यानमें लगे रहते हैं। पुनः *'इहै लाभ 'संकर' जाना'*। अर्थात् इसी लाभको हमने कल्याणकारक जाना है। (रा० प्र०)] (ङ) दर्शनको लाभ कहनेका भाव कि आपके दर्शनसे हमारे सब मनोरथ पूरे हो गये। इसीसे आगे कहती हैं कि मैं और कुछ वर नहीं माँगती। [(च) अ० रा० यथा—'भवभयहरमेकं''''''कमलविशदनेत्रं सानुजं राममीडे।' (१। ५। ६०)]

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न मागौं बर आना।
पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना॥ ३॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं बुद्धिकी बहुत भोली (भोंडी, बोदी) हूँ, अर्थात् बुद्धिहीना हूँ, मेरी (यह) विनती है (सो सुन लीजिये)। हे नाथ! मैं और कोई वर नहीं माँगती। (केवल यही चाहती हूँ, यही विनय करती हूँ कि) आपके चरणकमलकी पराग (रज) में मेरा मनरूप भौंरा अनुराग करे और उसके मकरन्दरसको पान करता रहे॥ ३॥

☞ यह अर्थ पं० रामकुमारजीकृत है। 'पदकमल परागा (में) अनुराग करै रस पान करै।' कुछ लोग इस प्रकार अन्वय करते हैं—'पदकमलपरागा और अनुरागरूपी रस पान करै' वा 'पदकमलपरागा (के) अनुरागरूपी रसका पान करे'।

टिप्पणी—१ (क) ***'बिनती मोरी'*** का भाव कि आपके दर्शनका लाभ पतिके वचनसे हुआ। अब मेरी विनती है (अर्थात् यह मैं अपनी ओरसे माँगती हूँ)। वा, अभीतक जो आपने कृपा की वह तो आपने गौतम मुनि तथा गुरु विश्वामित्रजीका कहा किया, अब मेरी विनती सुनिये। (ख)***'मति भोरी'*** अर्थात् मुझे झूठ-सच कुछ भी समझ नहीं पड़ता; यथा—***'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परै झूठ का साँचा॥'*** (३। ११) इसीसे और वर नहीं माँगती। पुनः भाव कि वेद-शास्त्रादि तो मैंने पढ़े नहीं कि जिससे विचारकर कुछ और उत्तम वर माँगूँ, इससे जो आपने दिया है—***'रघुपति कृपा भगति पाई'***—वही मैं फिर भी माँगती हूँ, ***'आन'*** कुछ नहीं चाहती। अर्थात् जो आपने दिया है वही एकरस प्राप्त रहे। पुनः,***'न बर मागौं आना'*** का भाव कि आपके दर्शनसे सब मनोरथ पूर्ण हो गये, इसीसे अब कुछ माँगना नहीं है। अथवा इस प्रकार अर्थ कर लें कि हे प्रभो! मेरी यह विनती है कि मैं मतिभोरी हूँ। चरणकमलकी रजमें प्रीति छोड़कर मैं अन्य कोई वर न माँगूँ।' (ग) ***'प्रभु'*** अर्थात् आप '**कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः**' हैं। और मैं मतिकी भोरी हूँ, अर्थात् आपकी स्तुति करनेयोग्य मुझमें बुद्धि नहीं है; यथा—***'कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करौं कवन बिधि तोरी॥ महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि सनमुख खद्योत अँजोरी॥'*** (३। ११। २) (घ) ☞ अन्य वर नहीं माँगती हूँ, इसमें आशय यह भी है कि यदि अन्य वर माँगें तो जो वचन प्रथम कहे थे कि जो लाभ हमको हुआ उस लाभको शंकरजीने ही जाना है, वे मिथ्या हो जायँगे। भारी लाभकी प्राप्ति होनेपर अन्य लाभका माँगा जाना जनाता है कि माँगनेवाला भारी लाभको लाभ नहीं समझ रहा है। भक्त लोग भक्ति पाकर अन्य वर नहीं माँगते। (ङ) चरणमें प्रेम होना 'पादसेवन' अर्थात् चतुर्थ भक्ति है।—'**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**'

टिप्पणी—२ ***'पद कमल परागा रस अनुरागा……'*** इति। (क) प्रथम जो कहा था कि मैं मतिभोरी **हूँ,** उसीको पुष्ट करती हैं कि मैं कुछ नहीं जानती, इतनाभर जानती हूँ कि आपके चरण-रजसे मेरा उद्धार हुआ, पत्थरसे मैं दिव्य स्त्री हो गयी, मुझमें ज्ञान उत्पन्न हो गया और भक्ति प्राप्त हुई। रजका यह सब प्रभाव मैंने आँखों देखा है। इसीसे रजमें अनुराग चाहती हूँ। पदपरागमें मेरा मन अनुराग करे, यथा—***'बंदउँ गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥'*** अथवा, पदकमलपरागा और रसरूपी अनुरागको मेरा मन-मधुप पान करे। मनका चरणोंमें लगना पान करना है। भौंरा परागको खाता है (उसमें लोटता है) और रस पीता है। अर्थात् पराग और रस दोनोंमें उसका अनुराग रहता है। इसीसे पराग और रस दोनों कहे। तात्पर्य कि इसी प्रकार मेरा मन रजसमेत चरणोंमें लगा रहे। उसको कभी छोड़े नहीं। [रा० प्र० का मत है कि रजमें अनुराग हो अर्थात् उसे चाटे, उसमें लोटे और उसका रस अर्थात् चरणामृत पान करे। भाव कि भ्रमरकी तरह मन लुब्ध रहे, चाहे परागमें लोटे, चाहे मकरन्द पान करे। अ० रा० में चरणकमलोंकी आसक्तिपूर्ण भक्ति माँगी है, यथा—'**देव मे यत्र कुत्रापि स्थिताया अपि सर्वदा। त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे॥**' (१। ५। ५८)]

जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥

अर्थ—जिस चरणसे परम पवित्र गङ्गाजी प्रकट हुईं (जिन्हें) शिवजीने सिरपर धारण किया और जिस चरणकमलकी ब्रह्माजी पूजा करते हैं वही चरणकमल, हे कृपालु हरि! आपने मेरे सिरपर रखा।

टिप्पणी—१ (क) जिन चरणकमलोंका अनुराग ऊपर माँगा है उन्हींका अब माहात्म्य कहती हैं। इन चरणोंसे आप स्वयं पावन हुईं, इसीसे चरणकी पावनता (प्रथम) कहती हैं। चरण ऐसे पावन हैं कि वहाँसे जो सुरसरि प्रकट हुई वह परम पुनीत हैं, चरणका प्रक्षालन समझकर उन परमपुनीत गङ्गाजीको शिवजीने सिरपर धारण कर लिया तब उन चरणोंकी पावनताको कौन वर्णन कर सकता है? गङ्गा साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं सो आपके चरणसे पैदा हैं। चरणकी यही बड़ाई है कि ब्रह्म (ब्रह्मद्रवरूपसे) आपके चरणोंसे पैदा हुआ है। (ख) *'परम पुनीत'* यथा—*'मकरंद जिन्हको संभुसिर सुचिता अवधि सुर बरनई'*। पुनः भाव कि और सब नदियाँ पुनीत वा अति पुनीत हैं, किंतु सुरसरि परम पुनीत हैं। पुनः, भाव कि यह ब्रह्मा और शिवादिको पवित्र करनेवाली है। जो स्वयं पावन हैं और *'सुरसरि'* है इससे देवता लोग पवित्र होते हैं। (ग) *'सोई पदपंकज जेहि पूजत अज'* अर्थात् आपके चरणोंको ब्रह्माजीने पूजा अर्थात् उनका प्रक्षालन किया, उसी प्रक्षालन (चरणामृत) को शिवजीने सिरपर धारण किया। साक्षात् वही चरण मेरे सिरपर आपने कृपा करके रखा। इस कथनका तात्पर्य यह है कि मेरा भाग्य शिवजी और ब्रह्माजीसे भी अधिक बड़ा है। *'सोई'* दीपदेहली है अर्थात् ब्रह्मा और शिवजीसे पूजित और आदरित। (घ) *'सिर धरेउ कृपाल हरी'* का भाव कि आपने अपनी अहैतुकी कृपासे मेरे शीशपर अपना चरण रखा कुछ मेरे सुकृतोंसे नहीं, मेरे ऐसे सुकृत कहाँ थे? चरणोंसे क्लेश हर लिये, अतः *'हरी'* सम्बोधन किया। **'क्लेशं हरतीति हरिः'** (ङ) ☞ चरणस्पर्श और दर्शनसे जो उपकार हुआ वह यहाँतक कहा। *'परसत पद पावन.........'* का उपकार *'सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी'* यह कहा और *'देखत रघुनायक.....'* का उपकार *'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना'* यह कहा। हरिचरणोंसे उद्धार हुआ इसीसे बारम्बार हरिचरणमें पड़ती हैं।

नोट—अ० रा० में इस प्रकार कहा है—**'अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम्। स्पृशामि यत्पद्मजशङ्करादिभिर्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा॥' यत्पादपङ्कजपरागपवित्रगात्रा भागीरथी भवविरिञ्चिमुखान्पुनाति। साक्षात्स एव मम दृग्विषयो यदास्ते किं वर्ण्यते मम पुराकृतभागधेयम्॥'** (१।५।४३, ४५) अर्थात् आपके जिन पादारविन्दोंका ब्रह्मा-शम्भु आदि सर्वदा एकाग्रचित्तसे अनुसन्धान किया करते हैं उन्हींके रज-कणका स्पर्शकर आज मैं कृतार्थ हो रही हूँ। जिन चरणकमलोंके परागसे पवित्र हुई श्रीभागीरथीजी शिव-विरञ्चि आदिको भी पवित्र कर रही हैं उन्हींका आज साक्षात् मुझे दर्शन हो रहा है।

एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी।
जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पति लोक अनंद भरी॥४॥

अर्थ—इस प्रकार महर्षि गौतमकी पत्नी (अर्थात् दिव्यरूप होकर, भगवान्‌की स्तुति करके और) श्रीहरिके चरणोंमें बारम्बार पड़-पड़कर चलती हुई। जो अत्यन्त मनको भाया था वही वरदान उसने पाया और आनन्दमें भरी हुई अपने पतिके लोकको गयी॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'बार बार हरि चरन परी'* इति। हरिचरणोंसे उद्धार हुआ, इसीसे उपकार मानकर बारम्बार चरणोंमें पड़ी, पुनः भक्ति पायी है, अतः बार-बार चरणोंपर पड़ी; भक्तलोग भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना बारम्बार करते ही हैं।

टिप्पणी—२ ☞ उपक्रममें भगवान्‌ने अपना चरण अहल्याके सिरपर धरा—*'परसत पदपावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही'*— उद्धार करना यह स्वामीका धर्म है। उपसंहारमें अहल्या भगवान्‌के चरणोंमें

अपना शीश बारम्बार धरती है—यह सेवकधर्म है। जब स्तुति करने लगी तब चरणोंमें पड़ी—'*अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही।*' और जब चलने लगी तब बारम्बार चरणोंमें पड़ी।—तात्पर्य कि चरणका प्रभाव कहकर चरणोंको प्रणाम किया, फिर जब चलने लगी तब चलनेके हेतुसे (विदा होनेके समय) प्रणाम किया। स्तुतिके पश्चात् प्रणाम करना चाहिये, इससे स्तुति कर चुकनेपर प्रणाम किया। पुनः, चरणोंकी भक्तिका वर मिला इससे चरणोंमें प्रणाम किया। इत्यादि कारणोंसे अपनी कृतज्ञता जनानेके लिये बारम्बार प्रणाम करती हैं,—'*मो पहिं होइ न प्रत्युपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥*' (७। १२५)

टिप्पणी—३ (क) '*जो अति मन भावा सो बरु पावा*' इति। यह वर प्रथम ही कह आये हैं; यथा—'*नाथ न बर माँगउ आना। पदकमलपरागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना॥*' '*अति मन भावा*' क्योंकि इसका प्रभाव स्वयं आँखों देख लिया है। (ख) '*बरु पावा*' इति। अहल्याका वर माँगना तो स्पष्ट है पर श्रीरामजीका वर देना स्पष्ट नहीं किया गया। क्योंकि गुरुजी समीप ही खड़े हैं। उनके संकोचसे प्रकटरूपसे '**एवमस्तु**' न कह सके। (प्रत्यक्ष कहनेसे मर्यादाको हानि पहुँचती। अतएव मुखसे कुछ न कहा पर उसको मनोवाञ्छित वर दे दिया इस तरह कि) उसके हृदयमें श्रीरामजी प्राप्त हो गये। यही वर पाना है। जब मूर्ति हृदयमें आयी तब पदकमलपरागको मन-मधुप पान करने लगा। भक्तलोग मूर्तिसहित चरणोंमें मन लगाते हैं, मूर्तिसे पृथक् चरणोंका ध्यान नहीं करते। जब आनन्दमूर्ति हृदयमें आयी तब आनन्दसे भरी पतिलोकको गयी। (नोट—वक्तालोग औरोंके सन्देहनिवारणार्थ स्वयं इस बातको इस प्रकार प्रकट कर रहे हैं कि उसने मनोवाञ्छित वर पा लिया इसीसे आनन्दमें भरी हुई है।) (ग) '*अनंद भरी।*' भक्तिका वर मिला जो अत्यन्त दुर्लभ है, यथा—'*प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥*' दुर्लभ वस्तुकी प्राप्तिसे अति आनन्द हुआ ही चाहे। पुनः भाव कि पहले दुःखसे भरी थी, अब आनन्द-पर-आनन्द है—एक तो चरणस्पर्शका आनन्द, दूसरे दर्शनका आनन्द, तीसरे मन नये वरकी प्राप्तिका आनन्द, चौथे पतिकी प्राप्तिका आनन्द इत्यादि बहुत प्रकारके आनन्दकी प्राप्ति होनेसे आनन्दसे भर गयी। यहाँ '*प्रथम प्रहर्षण अलङ्कार*' है।

[☞ कहा जाता है कि गौतमजी भी इस समय वहाँ आ पहुँचे थे और अहल्याको साथ लेकर चले गये। यथा—'**संस्तूय रघुनाथं सा पत्या सह गता पुनः।**' इति सत्योपाख्याने। पुनः, यथा—'*रामके प्रसाद गुर गौतम खसम भये रावरेहु सतानंद पूत भये मायके।*' (गी० १। ६७) '*करि बहु बिनय, राखि उर मूरति मंगल-मोदमई। तुलसी ह्वै बिसोक पति-लोकहि प्रभुगुन गनत गई॥*' (गी० १। ५९)

प० प० प्र०—अहल्याकृत स्तुति और कृत्तिकानक्षत्रका साम्य। (१) अनुक्रम—यह तीसरी स्तुति है और कृत्तिका तीसरा नक्षत्र है। (२) नामसाम्य—**कृत्तिका='कृत्तिः कृत्यते इति कृत्तिः कृती छेदने'** (अमर व्या० सु०)=छेदन करनेवाली। इस स्तुतिने सकल घोर पापों और भवस्वेदका छेदन कर डाला। (३) तारा संख्या-साम्य—**षड्भिः खुराभम्।**' (पं० रघुनाथशास्त्रीकृत धुनाके) नक्षत्रोंके नकशेमें सात तारे दिखाये हैं, पर खाली आँखोंसे छः ही देखे जा सकते हैं, दूरबीनसे सात देख पड़ते होंगे। वैसे ही इस स्तुतिमें '*रघुनायक, रघुपति, रघुराई, प्रभु जग पावन, हरिभवमोचन, कृपाल हरी*' ये छः हैं, सातवाँ गिनना हो तो '*हरिचरन*' है ही। (४) आकारसाम्य—नक्षत्राकार '*खुराभ*' है। अर्थात् टापके सदृश वा उस्तरा, छुराके समान कहा है पर अश्वकी टापके समान ही दीखता है। टापमें ऊपर और नीचेका, ऐसे दो भाग होते हैं। ऊपरका भाग सहज ही देखनेमें आता है, वैसे ही यहाँ रघुनायक, रघुपति, रघुराई ऊपरसे सहज ही जाने जाते हैं और ये शब्द पूर्वार्धमें ही हैं। 'प्रभु' टापके नीचेके मध्यभागके समान मध्यमें है, गुप्त है, पहिचानना दुष्कर है। '*हरि भवमोचन*', '*कृपाल हरि*' यह भी किसी बड़भागीको ही सूझ पड़ता है। '*हरिचरन*' का अर्थ घोड़ेका चरण भी होता ही है। (५) देवता साम्य—नक्षत्रका देवता अग्नि है। और इधर गौतमजीका क्रोधाग्नि और शापाग्नि ही इसका मूल कारण है। (६) फलश्रुतिसाम्य—'*सद्गुरु ज्ञान बिराग जोग के।*' (१। ३२३) फलश्रुति है। इधर रामकृपासे अहल्याजीको प्रभुका ज्ञान हुआ। उसने केवल भक्ति ही माँगी और कुछ न माँगा। मोक्षादिसे भी विराग ही रहा। पतिवियोग हुआ था सो पतियोग हुआ ही '*गै पति लोक अनंद भरी*'।

दो०—अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहिं* भजु छाँड़ि कपट जंजाल॥ २११॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ऐसे दीनबन्धु और कारणरहित कृपा करनेवाले हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि हे शठ (मन)! कपट-जंजाल छोड़कर उन्हींका भजन कर॥ २११॥

टिप्पणी—१ (क) '*अस*' अर्थात् जैसा ऊपर दिखा आये कि अधमा, अपावनी, पतिसे त्यक्ता, जड़ पाषाण हुई पड़ी, सर्वसाधनहीना अहल्याका निःस्वार्थ उद्धार किया। (ख) '*दीनबंधु*' हैं अर्थात् दीनोंकी सदा सहायता करते हैं, यथा-'*होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के धाए॥*' (२। ३०६) जैसे उत्तम श्रेष्ठ भाई क्लेशमें, कुअवसरमें काम आते हैं वैसे ही प्रभु दीनोंके क्लेशमें, संकटमें सुबन्धुसे भी अधिक सहायक होते हैं। (ग) '*कारन रहित दयाल*' हैं, दीनोंपर कारणरहित दया करते हैं। भाव कि अहल्यापर दया करनेका कोई भी कारण न था। पतिवंचक स्त्रीपर दया कैसी? [(घ)☞ शिलासे दिव्य स्त्री बना दी। दीनकी सहायता करनेमें समर्थ होनेसे '*प्रभु*' और पतिवियोग तथा निज पापजनित शोकको बिना कारण अपनी दयासे नाश करनेसे, दया करके क्लेश हरनेसे '*हरि*' कहा। स्वयं वहाँ जाकर कृपा की। पाप और शाप दोनोंसे मुक्त किया। यथा—'*ऐसे राम दीन हितकारी। अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी॥ साधनहीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनि नारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर श्राप ते तारी॥*' (विनय० १६६) पुनश्च '*राम भलाई आपनी भल कियो न काको। हर्‌यो पाप आपु जाइकै संताप सिलाको॥*' (विनय० १५२)]

नोट—'*अस प्रभु*' से सूचित होता है कि अहल्याके प्रकरणको कहते हुए कविका मन स्तुतिमें तद्रूप हो गया है। अतः आप भी सम्मिलित होकर कहते हैं कि '*अस प्रभु*'। इस दोहेके पूर्वार्द्धमें अपनेको गुप्तालंकारसे छिपाया, परंच उत्तरार्द्धमें प्रेमोद्गारने उन्हें प्रकट कर दिया।—'तुलसीदास'। (रा० च० मिश्र)। '*कारन रहित दयाल*' यथा—'*लेखें जोखें चोखें चित तुलसी स्वारथ हित, नीकें देखे देवता देवैया घने गथके*'''। *और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत, लसमके खसमु तुहीं पै दसरत्थ के॥*' (क० ७। २४) '*हरिहु और अवतार आपने, राखी बेद बड़ाई। लै चिउरा निधि दई सुदामहिं, जद्यपि बाल-मिताई॥*' (विनय० १६३)

टिप्पणी—२ (क) '*तुलसिदास सठ तेहिं भजु*.......' इति। भगवान्‌को ऐसा जानकर भी नहीं भजता, इसीसे गोस्वामीजी अपने मनको शठ कहते हैं। यहाँ गोसाईंजीका नाम है, इसीसे मनका अध्याहार है। गोस्वामीजी अपनेको शठ न कहेंगे, अपने मनको शठ कहते हैं। यथा—'*तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना॥*' (५। ६०) '*पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।*' (७। १३०) इत्यादि। अथवा, अपनेको शठ कहते हैं, यथा—'*सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु।*' (१। २८) '*कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि रामसनमुख करत को।*' (२। ३२६) तथा यहाँ '*तुलसिदास सठ*.......' इत्यादि। मनको शठ कहनेमें भाव यह है कि तू पत्थरसे अधिक जड़ नहीं है तब तू भजनमें क्यों नहीं तत्पर होता? देख, शिला तो दिव्य मूर्ति हो गयी तब तू क्या उससे भी गया-गुजरा है कि तेरा उद्धार न होगा! गोस्वामीजी अपने मनको धिक्कारते हैं और उसे (तथा उसके द्वारा दूसरोंको) उपदेश देते हैं कि कपट-जंजाल छोड़कर भगवद्भजन करो] (ख) '*छाँड़ि कपट जंजाल*'। '*कपट-जंजाल*' भजनके बाधक हैं, यथा—'*निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥*' (५। ४४) '*गृह कारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला॥*' (३८। ८) कपट छोड़ना भीतरकी सफाई है, जंजाल छोड़ना बाहरकी सफाई है। भीतर-बाहर दोनोंकी सफाईके लिये कपट और जंजाल दोनोंको कहा। ['*छाँड़ि*' का भाव कि यह छोड़नेसे ही छूटता है, यथा—'*होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥ बरबस राज सुतहि*

* ताहि—को० रा०। तेहिं—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०।

नृप दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥' जंजाल यथा—*'जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ 'जनम मरन जहँ लगि जगजालू॥'*— यही सब जंजाल है। (वि० त्रि०)]

यज्ञरक्षा और अहल्योद्धार-प्रकरण समाप्त हुआ।

(श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु। श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये। श्रीमते रामचन्द्राय नमः)

प्रेमडगरिया मिथिला नगरिया

(नगर-दर्शन-प्रकरण)

श्रीराजारामशरण (लमगोड़ाजी)—श्रीरामचरितमानस एक नाटकीय महाकाव्य है। अंग्रेजी साहित्यमें यह धारणा है कि महाकाव्य (Epic) की उड़ान ऊपरको (Vertical) और नाटक (Drama) का फैलाव बराबरपर (Horizontal) होता है। इससे इन दोनों कलाओंका एकीकरण नहीं हो सकता। फारसी भाषाकी भी धारणा है कि 'रज्म' (Epic) अर्थात् रौद्र और वीररसप्रधान कविता, 'बज्म' (Drama or Lyric अर्थात् शृङ्गार और हास्य रसोंकी कविता) और *'पद व नसायह'* (अर्थात् शान्त-रसकी शिक्षाप्रद कविता) एक नहीं हो सकतीं।—(विस्तारसे इस विषयका लेख चाँदमें प्रकाशित हो चुका है); मगर कवि मुशकिल-पसन्द होते हैं। स्पेन्सर (Spencer) ने प्रयत्न किया, किंतु फिर 'फेयरी कुइन्' (Fairy Queen) को महाकाव्यका रूप ही दे डाला। दोनों कलाओंके संमिश्रणमें वह सफल न हुआ। मिलटनने तो महाकाव्यसम्बन्धी नाटकके ऐक्ट और सीन सब ढाँचा' पैराडाइज लास्ट' (Paradise Lost) के लिये बना लिया और सूर्यदेवके लिये प्रारम्भिक स्तुति भी लिखी, लेकिन फिर उनकी हिम्मत टूट गयी। टेनिसन (Tennyson) ने फिर उद्योग किया तो कुछ दृश्य 'आइडल्स आफ़ दि किंग' (Idylls of the King) लिख सके। फारसीमें सिकन्दरनामा और शाहनामा अच्छे महाकाव्य हैं, परंतु उनकी उड़ान अधिकतर भौतिक ही है। उनमें आधिदैविक कला बहुत कम है और आध्यात्मिक तो कुछ भी नहीं है। फिर उपर्युक्त किसी भी महाकाव्यमें विज्ञान, ज्ञान, योग, दर्शन, भक्ति, कथा, नीति और व्यवहारसम्बन्धी रहस्य भी पूर्ण नहीं हैं।—ये तो भारतवर्षके पुराण और इतिहासरूपी महाकाव्योंमें ही ठीक तरह मिलते हैं। हाँ, डैण्टी (Dante) के 'डिवाइन कामेडी' (Divine Comedy दैवी सुखान्तक काव्य) में कुछ रहस्य है, किंतु वहाँ महाकाव्यका ओज गुण नहीं है। होमर (Homer) के 'इलियड (Ileod) और ओडेसी' आधिदैविक हैं किंतु उपर्युक्त रहस्योंकी चर्चा वहाँ नहीं है। इसीसे तो 'अर्नेस्टउड' (Ernest Wood) ने लिखा है कि तुलसीकृत रामायण लेटिन और ग्रीक भाषाके महाकाव्योंसे बढ़ा-चढ़ा हुआ है। और फ्रेजर (Frazer) ने लिखा है कि तुलसीदास मिलटन और स्पेन्सरसे पीछे नहीं हैं। सर जार्ज ग्रियरसन (Sir George Grierson) मानते हैं कि तुलसीदास एशियाके छः बड़े (महान्) लेखकोंमें हैं।

यदि बालकाण्डके प्रारम्भिक भागको प्रस्तावना कहा जाय और उत्तरके अन्तको उपसंहार तो बीचका हिस्सा बड़े ही सुन्दर नाटकोंकी शृङ्खलावाला महाकाव्य रह जाता है। चित्रकूटतक नाटकी-कला प्रधान है तो उसके उपरान्त महाकाव्य कला, तथापि दोनों कलाओंका साथ कभी नहीं छूटा।

☞ तनिक विस्तारसे लिखनेका प्रयोजन यह बताना है कि अब हम बड़े सुन्दर सुखान्त नाटकीय कलाके अंशमें प्रवेश कर रहे हैं और यहाँ 'मानस-पीयूषकार' का शीर्षक भी बड़ा ही सुन्दर है*। याद रहे कि विश्वामित्रके प्रसङ्गमें महाकाव्यकला प्रधान थी। मगर नाटकीय कलाके संकेत उसमें भी मौजूद हैं।

* यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यह शीर्षक मेरे गुरुदेवजी महाराज अनंत श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद श्रीरूपकलाजीका लिखाया हुआ है, इसमें दासकी कोई करामात नहीं है। यह बड़ाई उन्हीं श्रीगुरुदेवजीकी है, जिन्होंने 'मानस-पीयूष' लिखवा लिया।